गगनाञ्चल

वर्ष ९ अंक १-२ (संयुक्तांक) १९८६

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
नयी दिल्ली

प्रकाशक: महानिदेशक, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

संपादक
गिरिजा कुमार माथुर

प्रकाशन सहायक
अमरेंद्र मिश्र

आवरण
कांतिराय

मुद्रक: एस. बी. प्रिंटर्स
बी-१७, सेक्टर ८
नौएडा

शुल्क दरें

एक अंक	वार्षिक	त्रैवार्षिक
रु० ५.००	रु० २०.००	रु० ५०.००
£ १.००	£ ४.००	£ १०.००
$ २.५०	$ १०.००	$ २५.००

यह अंक दस रुपए मात्र

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के अधीन एक स्वायत्त संगठन है। भारत व अन्य देशों के मध्य सांस्कृतिक संबंधों एवं पारस्परिक सद्भाव को स्थापित तथा संपुष्ट करने के उद्देश्य से १९५० में परिषद् की स्थापना की गयी थी। भारत तथा दूसरे देशों के मध्य इस सांस्कृतिक संवाद के उद्देश्य से आयोजित अपने प्रकाशन कार्यक्रम में परिषद् अन्य गतिविधियों के अतिरिक्त त्रैमासिक पत्रिकाएँ भी प्रकाशित करती है जो हिंदी **(गगनाञ्चल)**, अंग्रेजी **(इंडियन हराइज़न्स, अफ्रीका क्वार्टरली)**, अरबी **(सक़ाफ़त-उल-हिंद)**, स्पेनिश **(पपेलस-दे-ला-इंडिया)** और फ्रेंच **(रकौंत्र अवेक लैंद)** भाषाओं में है। हिंदी, अंग्रेजी, अरबी, स्पेनिश और फ्रेंच त्रैमासिकों की शुल्क दरें साथ दी हुई हैं। 'गगनाञ्चल' के शुल्क के भुगतान से संबंधित पत्र-व्यवहार और प्रकाशन सामग्री के लिए संपादक 'गगनाञ्चल' से निम्नलिखित पते पर संपर्क किया जाना चाहिए:

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आज़ाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट
नयी दिल्ली-११०००२

गगनाञ्चल

वर्ष ९, अंक १-२, १९८६

भारत-वाणी

डॉ. रणजीत कुमार साहा

(वेद और उपनिषद् उदात्त जीवन-मूल्यों के वे आदि-स्रोत रहे हैं जिनसे पृथ्वी पर मनुष्य मात्र के मंगल और उत्कर्ष की श्रेष्ठतम भावना मंदाकिनी की तरह प्रवाहित रही है। यहाँ उसी पावन-वाणी की एक झलक प्रस्तुत की जा रही है।)

वैदिक भारत की सामाजिक एवं भौगोलिक अवस्थिति तथा लोक-मंगल की व्यापक परिकल्पना के लिए वेदों का सर्वोपरि महत्त्व है। वैदिक ऋषियों ने अनेक ऋचाओं में मानवीय समता एकता एवं उत्कर्ष को सर्वोच्च स्थान देते हुए उसके कल्याण-कारी मंगल स्वरूप का बार-बार अभिवादन किया है। यह स्वस्त्ययन अनेक उदात्त मंत्रों द्वारा हुआ है।

ऋग्वेद की एक ऋचा मे 'उपसर्प मांतर भ्रमिम्' (१०.१९.) द्वारा मातृभूमि की सेवा को श्रेष्ठ व्रत बताया गया है। ऋग्वेद के अंतिम श्लोकों में जन-जन का आह्वान और मानवीय मनीषा का अभिनंदन है। इस संवर्द्धना में मनुष्य की शक्ति और सामर्थ्य, एकता और समानता के साथ-साथ भावनात्मक अंतरंगता का विशेष उल्लेख किया गया है। मानवीय विवेक, सद्भाव, समानता और समष्टि के कल्याण के लिए आत्म-दान का इससे बड़ा संदेश अन्यत्र दुर्लभ है:

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वे संजनाना उपासते ।।
समानो मंत्र: समिति: समानी समानं मन: सह चित्तमेषाम् ।
समानं मंत्रमभि मंत्रयेव: समायेन वो हविषा जुहोमि ।।
समानी व आकूति: समाना हृदयानि व:
समानस्तु वो मनो यथा व: सुसहासति ।। (१०.१९१. २-४)

— तुम्हारे मंत्र समान हों
मंत्रणा समान हों
तुम्हारी मंत्रणा-सभा समान हो

विचार समान हों
सब संग चलें, संगति पूर्वक बोलें
संगति पूर्वक विचार करें

जिस प्रकार महान विद्वान् अपने विवेक से
प्राप्त अंश ग्रहण करते हैं
उसी प्रकार तुम भी
अपना भाग प्राप्त करो।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही 'मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव:' (१/९०.६) तथा 'क्षेमो वे राष्ट्रस्य शीतो वात' (१११, ९.७.२) एवं 'माध्वीर्न सन्त्वाम धी : 'जैसी सूक्तियां मिल जाती हैं। इनमें प्रकृति के समस्त उपादानों का मानवीय जीवन-मंगल के लिए आह्वान किया गया है। इन मंत्रों में कहा गया है—

हे पूर्ण विद्याव्रती। तुम्हारे लिये और अपने योग्य सत्य-व्यवहार चाहने वाले मनुष्य के लिए वाता: (वायु) मधु (मधुरता) और सिन्धव: (समुद्र) अथवा नदियाँ मधुर गुणों की वर्षा करती रहें। ये सभी उपादान हमारे लिए सोमलता आदि औषधि (माध्वी:) मधुर गुणों को प्रदान कराने वाले हों।

वेदों में समग्रता तथा समष्टि के मंगल के लिए समर्पित जीवन-पद्धति पर बहुत अधिक ज़ोर दिया गया है। यह धरा तभी अपनी सार्थकता पा सकती है। ऋग्वेद की भाँति अथर्ववेद में भी उपर्युक्त उपादानों की परस्पर अपेक्षा और अन्योन्याश्रिता का भाव देखा जा सकता है:

सं सं स्रवन्तु सिन्धव:
सं वाता: सं पतत्रिण: ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे
जुषंतां सं सान्येण हविषा जुहोमि । (१, १५.१ अथर्ववेद)

एक अन्य मंत्र में यह कहा गया है कि इस देश में उन्नत हुए विद्वान् मनीषियों के निकट रहकर पृथ्वी के समस्त मनुष्य अपने अपने चरित्र का निर्माण करें। इस मंत्र में संबोधन भी है और अखिल विश्व के मानवों को आमंत्रण भी,

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्र जन्मन: ।
स्व स्व चरित्र शिक्षरेन पृथिव्यां सर्वमानव: ।।
मद वदामि मधुमत तद् वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोहत: ।।

मैं अपनी मातृभूमि के लिए जो कहता हूँ, वह उसके कल्याण से प्रेरित है, मैं जो देखता हूँ, वह उसकी सहायता के लिए है। मैं ज्योतिपूर्ण, तेजस्वी और बुद्धि संपन्न होकर मातृभूमि का दोहन करने वाले शत्रुओं का पराभव और विनाश करने को प्रवृत्त होता हूँ।

इन मंत्रों से यह पता चलता है कि हमारे पूर्वज देशमाता की रक्षा के लिए प्राण न्योछावर करने को तैयार रहते थे तथा देश पर आयी विपत्ति की घड़ी में शत्रु के संहार के लिए सन्नद्ध भी। अथर्ववाणी में ही, राष्ट्र जागरण की प्रभाती या देश प्रेम का अलख जगाने वाले स्वर भी सुनायी पड़ते हैं। राष्ट्र के निर्माण, संगठन, उन्मेष और उत्कर्ष के क्षणों में यहाँ के प्रबुद्ध मानव ने एक बालक की भाँति मातृभूमि का स्तवन उच्छ्वसित स्वर में किया था:

''माता भूमि: पुत्रो अहं पृथिव्या:'' (अथर्ववेद, १२.१.१२)

यह भूमि मेरी माँ है और में धरा-पुत्र हूँ—''इस जयघोष के साथ वह किसी आक्रमण या आपत्ति

की संभावना देखकर, वह अपने पुरुषार्थ का आह्वान करता था। यह पुरुषार्थ और कहीं नहीं, स्वयं उसके दायें हाथ में विराजमान था और विजय बायें हाथ में। और इसी संकल्प के साथ वह आक्रांता पर टूट पड़ता था—

"कृतं में दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित: ।" (अथर्ववेद, ७.५२.८)

देश की संवर्धना के साथ-साथ व्यक्ति अपनी आत्म-शक्ति को भी संबोधित करता रहता था। वह अपनी भूमिका को समान महत्त्व देता था। नीचे उद्घृत किये जा रहे दो मंत्रों से इस बात की पुष्टि हो जाती है:

अहयस्मि सहयान उत्तरो नाम भ्रम्याम् ।
अभीषाऽस्मि विशाषाऽशामाशां विषासहि: ।।

— मैं अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए और उसके दु:ख विमोचन के लिए सब प्रकार के कष्ट सहने को तैयार हूँ। वे कष्ट चाहें जिस ओर से आवें और जिस समय आवें, मुझे इसकी परवाह नहीं है।

अथर्ववेद के ग्यारहवें काण्ड की एक ऋचा में यह कहा गया है कि ब्रह्मचर्य एवं तप द्वारा ही राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है:

"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।" (११.३.५)

इसके पूर्व ब्रह्मचर्य की महिमा का उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि ब्रह्मचर्य की तपस्या से ही देवों ने मृत्यु का संहार किया था और इसी की साधना द्वारा इन्द्र देवों के लिए स्वर्ग ले आये—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्मन ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य: स्वराभरत् ।। (११.३.२)

"सत्यं वद। धर्म चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद: । आचार्याय प्रियं धनमाद्दत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी: । सत्यान्न प्रमदितव्यम् म धर्मान्न प्रमादितव्यम् मधमन्नि प्रमादितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम् न प्रमदितव्यम्। देव पितृकार्याभ्याम् न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यान्यनवधानि कर्माणि। तेनि सेवितव्यानि।नो इतराणि। यान्यस्माकङ सुचरितानि। तानि त्वयो पास्यानि। नो इतराणि: । १.११. तैत्तिरीय उपनिषद्

— सत्य बोलो। धर्म के अनुरूप आचरण करो। ज्ञानोपार्जन से कभी विरत न होओ। सत्य से कभी दूर मत जाओ। धर्म पालन से कभी विरत न होओ। वेदाध्ययन, प्रवचन तथा स्वाध्याय से कभी आश्वस्त न होओ। देवो और पितरों द्वारा व्यक्त किये गये संतोषकारी कार्य से कभी निवृत्त न होओ। माता पिता को पूजनीय देवता जानो। आचार्य और अतिथि को भी उपास्य देवता जानो। प्रशंसनीय कार्य में ही प्रवृत होओ, अन्य में नहीं।

* * *

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरानिन्न वोधत
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गम् पथस्तत्कवयो वदन्ति ।। ३-१४, कठोपनिषद्

— आत्म ज्ञान का मार्ग छुरे की तीखी धार सदृश है,
यह ज्ञानी कवियों मनीषियों का ही पुण्य कथन है।
कर्मवीर तुम उठो मोह त्यागो अब जग जाओ
ज्ञान मिले, पथ सँवरे, अमर सच्चे मन से बढ़ जाओ ।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
आसक्तोह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरूषः ।। गीता, ३-१८-१९

— जो मानव अपने ही कर्म स्वभाव में प्रवृत्त
तृप्त और संतुष्ट है
वह जो अपने ही हित को नहीं समर्पित
अनासक्त और अनपेक्षित रहकर सर्वथा
जो करता है अपने कर्तव्य का अनुपालन
उसे मिलती है परम गति
वही श्रेष्ठ, सच्चा पुरुषार्थी है।

पुराकाल में, आश्रम में रहनेवाले ब्रह्मचारियों तथा व्रतचारियों के पालन करने योग्य धर्माचरणों का विस्तार से वर्णन करने की दृष्टि से **औशनस स्मृति** का विशेष महत्त्व है। इसके अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन समय में ऐसे विद्यार्थियों को व्यावहारिक शिक्षा देने पर विशेष बल दिया जाता था। निम्न उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जायेगी :

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ।। ४८, औशनस स्मृति

— द्विज जाति का गुरु अग्नि है और समस्त वर्णो का गुरु ब्राह्मण होता है। स्त्रियों का गुरु उसका पति ही होता है। जबकि अतिथि सबका गुरु होता है। संभवतः इसीलिए अतिथि को ''सर्वदेवमय' कहा गया है। गुरु की चर्चा करते हुए आगे बताया गया है कि विद्या, कर्म, अवस्था (वय), बंधु और धन जिसको प्राप्त हैं, वे पाँच मान्य स्थान कहे जाते हैं। किंतु इनमें पहले पहल अर्थात् पूर्वापर अपेक्षाकृत गुरु हैं :

विद्या कर्म वयो बन्धुर्वित्तं भवति यस्य वै ।
मान्य स्थानानि पंचाहुः पूर्व पूर्व गुरुणि च ।। ४९, औशनस स्मृति

अथर्ववेद (शौनक संहिता) के बारहवें में संयुत प्रथम सूक्त 'पृथ्वी सूक्त' कहलाता है। इसमें ६३ मंत्र हैं। यह सभी मंत्र पृथ्वी के जीवन के प्रोज्ज्वल उत्कर्ष की उदात्त कामनाओं से अनुप्राणित हैं।

यश्याश्चतस्तः प्रदिशः पृथिव्या यस्मामन्नं कृष्टयः संबभवु ।
या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भ्रमिगोष्विप्यन्ने दधातु ।। ४ ।।

— जिसकी चार दिशाएँ हैं, जहाँ कृषि कर्म किया जाता है। जो कई प्रकार से यहाँ के प्राणियों की रक्षा करती है, वह भूमि गौओं और धन-धान्य से हमें संपन्न करे।

यस्यां पूर्वे पूर्वजना वियक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन ।
गवागश्वानां वयस्श्य विष्ठा भगं वर्च पृथिवी नो दधातु ।। ५ ।।

— जहाँ हमारे पूर्वजों ने अद्‌भुत और अप्रतिम कार्य संपन्न किये और जहां देवों ने असुरों का संहार किया; वह मातृभूमि जो हमारी ही नहीं, गौओं, अश्वों और पक्षियों की भी माता है, वह हमें ऐश्वर्य, समृद्धि और तेज प्रदान करे।

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं घृतागच्छा वदामसि ।। २७ ।।

— जिस पुण्य धरा पर चतुर्दिक् वनस्पति, पर्वत और वृक्षादि अडिग खड़े हैं, उस विश्वधारिका पृथ्वी माता का हम सदैव गुणानुवाद करते हैं।

निधिं विभूति वसुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ।। ४४ ।।

विविध वैभवों और रत्नोंवाली पृथ्वी हमें मणि और सुवर्ण प्रदान करे। ओ प्रसन्नवदना, वरदात्री और विपुल धन-धान्य रत्नप्रसवा वसुधे, हमें अमित वैभव और गौरव प्रदान कर।

' 'पृथ्वी सूक्त' के अंत में, पृथ्वी की वंदना करते हुए यह कामना की गयी है कि सभी प्रदेश रोग, क्षय और भय से मुक्त हों। जो हम तेरे धरापुत्र हैं, दीर्घायु हों, सदा सजग रहें और अपने प्राण हथेली पर लेकर तेरी रक्षा के लिए सदैव तैयार रहें :

उपस्याते अनमीवा अपक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिनि प्रसूताः ।
दीर्घ न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्यामः ।। ६२ ।।

इस प्रकार वेदों की अमर-वाणी मानवीय जीवन में शांति, समृद्धि और समता की भावना से आलोकित है।

□

सुख, आरक्षा एवं कल्याण का मांगलिक प्रतीक स्वस्तिक

डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव

स्वस्तिक मानव जीवन का एक विलक्षण प्रतीक है। स्वस्तिक की एक विश्व-व्यापी परंपरा रही है। भारत में तो स्वस्तिक की परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से लेकर आज तक निरंतर पायी जाती रही है। इससे भाव, इतिहास, सभ्यता और सृष्टि सभी अभिव्यक्ति पाते हैं। स्वस्तिक की व्यापक महत्ता भारतीय दर्शन में स्वीकार की गयी है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति-पुरूषरूप दो तत्त्वों से बने तथा नरक, तिर्यक्, मनुष्य और देव आदि चतुर्गति-रूप संसार में घूमने वाले जीवन संबंधी महासत्य का यह एक प्रतीक है। इसके मध्य में खड़ी और आड़ी दो रेखाएँ पुरूष और प्रकृति, जीवन और पुद्गल, चैतन्य और जड़, वृक्ष और माया, अमत्‍र्य और मत्‍र्य, सत्य और असत्य, अमूर्त और मूर्त आदि विश्व के दो सनातन तत्वों का निर्देश करती हैं। इन रेखाओं के छोरों पर चार भुजाएँ चार गतियों का स्मरण कराती हैं।

'स्वस्तिक' शब्द कल्याणवाची है। इसीलिए स्वस्तिक कल्याण का प्रतीक है। वैदिक साहित्य में कल्याणकारी स्वस्तिक-मण्डल का उल्लेख पाया गया है (निरुक्त, अध्याय ११, खण्ड ४५)। कनिंघम 'स्वस्तिक' शब्द को 'सु' तथा 'अस्ति' शब्दों से बना मानकर इसका अर्थ 'अच्छा है' अथवा 'कल्याणमय है' करते हैं।

इसी प्रकार जैन तथा बौद्ध साहित्य में स्वस्तिक एक अष्टमांगलिक चिन्ह बतलाया गया है। औपपातिक सूत्र ३१ में गिनाए अष्टमंगलों में पहला नाम स्वस्तिक का है। अन्य सात मंगल हैं श्रीवत्स, नन्दयावर्त, वर्द्धमान, भद्रासन, कलश, मत्स्य तथा दर्पण। प्रतिष्ठा पाठ (श्लोक ३४६-४७, प्रतिष्ठासारोद्धार १/७८, ७९), वास्तुसार प्रकरण और अपराजितपृच्छा (सूत्र २२१, पंक्ति ८) के अनुसार स्वस्तिक सातवें तीर्थंकर सुपाश्र्वनाथ का चिन्ह था। ललित विस्तर में सिद्धार्थ के केशवेश के स्वरूपों में इन्हीं चिन्हों का उल्लेख है जिनमें स्वस्तिक की भी गणना है— श्रीवत्स-स्वस्तिक-*नन्द्यावर्त-वर्द्धमान संस्थान केशश्च महाराज: सर्वार्थासिद्धि: कुमार:* । इसी ग्रंथ में अन्यत्र सुजाता द्वारा तथागत के लिए पायस पकाने का वर्णन है जहाँ पर उबलते हुए दूध में स्वस्तिक समेत इन मांगलिक

चिन्हों की आकृतियों के बनने की बात कही गयी है—तस्मिन् खल्वपि क्षीरे श्रीवत्स-स्वस्तिक-नन्द्यावर्त-पद्म-वर्द्धमानादी नि मंगल्यानि संदृश्यते स्म।

महाभारत के द्रोणपर्व में कहा गया है कि राजदरबार में जाने से पहले धर्मराज युधिष्ठिर जिन मांगलिक द्रव्यों के दर्शन किया करते थे उनमें स्वस्तिक प्रतीक भी थे—स्वस्तिकान् वर्द्धमानांश्च नन्द्यावर्ताश्च् कांचनान्, माल्यं च जलकुंभांश्च ज्वलितं च हुताशनम्। सुश्रुत ने भी सुस्तुतसूत्रस्थान (२९/२८, २९) में शुभ शकुन के रूप में स्वस्तिक का उल्लेख किया है—स्त्रीपुत्रिणी सवत्सागौः वर्द्धमानं अलंकृता, कन्या मत्स्याः फलं चामं स्वस्तिकां मोदकाः दधि।

महापुरूष-लक्षणों की गणना में भी स्वस्तिक उपस्थित है। महाव्युत्पत्ति (३४८) तथा अर्थविनिश्चयसूत्र १३ में गिनाए गए ८० अनुव्यंजनों में स्वस्तिक का भी उल्लेख है। हलायुधकोश में इसे 'चतुर्विंशतिचिन्हान्तर्गत चिन्ह विशेषः' कहा गया है।

भारतीय शिल्प-ग्रंथों में जिन विभिन्न प्रकार के ग्रामों का वर्णन मिलता है उनमें स्वस्तिक भी एक प्रकार का ग्राम था। मानसार, मयमत तथा कामिकागम् में स्वस्तिक एक प्रकार का ग्राम-प्रभेद था जो प्रायः मार्ग योजना पर आधारित था। डॉ. प्रसन्न कुमार आचार्य ने मानसार (५७/१) के आधार पर स्वस्तिक ग्राम का एक रेखाचित्र प्रस्तुत किया है। प्रासादवास्तु में भी कई शैलियों के प्रासादों का उल्लेख है। इनमें सर्वतोभद्र, नन्दयावर्त, वर्द्धमान, रूचक, श्रीवत्स आदि के साथ-साथ स्वस्तिक की भी गणना है। रामायण में स्वस्तिक गृहों तथा स्वस्तिक नौकाओं का उल्लेख मिलता है—प्रज्जवाल तदा लंका रक्षागणगृहैः शुभः, सिताभ्रसध्शैश्चित्रैः पद्मस्वस्तिकसंस्थितैः । मानसार (२०/९४/३४-४१), बृहत्संहिता (५३/३५) तथा समरांगणसूत्रधार (६३/१०-१३) में स्वस्तिक-प्रासाद का वर्णन है। मानसार में स्वस्तिकाकार प्रासाद दो मंजिल के बताए गए हैं। बृहत्संहिता के अनुसार स्वस्तिक प्रासाद में पूर्व की ओर द्वार शुभ, माना गया है—'प्राग्द्वारं स्वस्तिकं शुभदम्' तथा 'प्राग्द्वारसहितं स्वस्तिकाख्यं पुत्रघनप्रदम्' । अग्निपुराण (१०४/२०-२१) तथा गरूड़ पुराण (४७/२१/२३, ३१-३३) में स्वस्तिकाकार प्रासाद को अष्टकोणिक भवन बताया गया है जब कि कामिकागम् (३५/८९) में वह दक्षिण तथा उत्तर में षण्नेत्र वाला भवन कहा गया है—दक्षिणे-चोतरे चैव षण्नेत्रं स्मृतम्। यहाँ पर षण्नेत्र संभवतः छः वातायनों के लिए आया है। प्रदक्षिणपथ तथा चार द्वारों समेत स्तूप का निर्माण तो स्वस्तिक रचना-विधान का अत्यंत स्पष्ट उदाहरण है। कर्नाटक के सलेम जिले में कतिपय प्रागैतिहासिक प्रस्तर के मकबरों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए मरे आइन्स्ले का यह अनुमान उल्लेखनीय है कि कहीं उन मकबरों का कोई संबंध स्वस्तिक से न हो। इन मकबरों में पत्थर इस प्रकार रक्खे हैं तथा पूर्व वाले पत्थर में छेद है जिससे रवि-रश्मियाँ उस मकबरे को प्रकाशित करती होंगी।

मानसार में ग्राम तथा प्रासाद के अतिरिक्त वातायन तथा अलिंद को भी स्वस्तिक नाम दिया गया है। हरिवंश पुराण तथा रामायण में विभिन्न प्रकार की नौकाओं का वर्णन है जिनमें स्वस्तिक नाम की नौकाएं भी थीं—आयताश्च्चुरस्राश्च वृत्ताश्च स्वस्तिकास्तथा, प्रासादा नौषु कौरव्य विहिता विश्वकर्मणा (हरिवंश, २/८८/५७, ५८)। अन्याः स्वस्तिक विज्ञेयाः महाघण्टाधरावराः, शोभमाना पताकिन्यो युक्तवाज्ञः सुसंहृताः (रामायण, २/८९/११) तथा ततः स्वस्तिक विज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृताम् (रामायण, २/८९/१२)। विशेष आकार-प्रकार के ग्राम, प्रासाद, वातायन, अलिंद अथवा नौकाओं को संभवतः मांगलिकता के कारण ही स्वस्तिक नाम दिया गया था।

भारतीय साहित्य के इन सभी विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वस्तिक एक मांगलिक प्रतीक रहा है। इसकी उपस्थिति से जीवन में सुख, आरक्षा तथा कल्याण की संवृति अभिप्रेत थी। कुछ

विद्वानों के अनुसार स्वस्तिक प्रतीक मूलतः गणित के धन चिन्ह के समान था। उनका कहना है कि ब्राहमी लिपि में धन चिन्ह 'क' अक्षर होता है और 'क' अक्षर का अर्थ ब्रह्मा तथा सुख होता है। इसीलिए स्वस्तिक हमारे जीवन में सुख का उद्‌भव माना गया है।

अधिक विद्वान स्वस्तिक को सूर्य का प्रतीक मानते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ग्रंथ तंत्रालोक (२/३/२४६) में नाद-ब्रह्म और शब्द-ब्रह्म की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने नाद-सृष्टि के छः रूप बतलाए हैं। अ, आ, इ, ई, उ तथा ऊ ये मुख्य छः स्वर हैं और यही छः स्वर सूर्य की छः रश्मियाँ हैं (२/३/१८४-८५)। नाद-सृष्टि के छः रूप तथा सूर्य की छः रश्मियाँ ही स्वस्तिक की छः पंक्तियाँ या भुजाएँ हैं— दो से मिलकर धन का चिन्ह बनता है और फिर उसमें चार भुजाएँ जुड़ती हैं। प्राचीन भारतीय सिक्कों पर पहले चक्र का चिहन् बनाया जाता था। आगे चलकर चक्र के स्थान पर स्वस्तिक का अंकन भी किया जाने लगा। इससे भी यह सूर्य का प्रतीक जान पड़ता है।

स्वस्तिक चार दिशाओं में व्याप्त विश्व-मण्डल के चतुर्भुजी रूप का प्रतीक है। चार दिशाओं या चार लोकपालों की पूजा के रूप में स्वस्तिक पूजा ही विकसित हुई थी। स्वस्तिक में ही चतुर्महादिशाओं की पूजा का प्राविधान था। प्राचीन विश्वास के अनुसार सूर्य-मण्डल के चतुर्दिक चार विधुत-केंद्र हैं—पूर्व में वृद्धश्रवा इंद्र, दक्षिण में वृहस्पति इंद्र, पश्चिम में पूषाविश्वेदा इंद्र और उत्तर में अरिष्टेनेमि इंद्र। इन्हीं चारों से घिरे स्थान को यास्कीय निरूक्त (११/४५) में कल्याणवाची स्वस्तिक-मण्डल कहा गया है—पथ्या स्वस्तिः पंथा अन्तरिक्षं तन्निवासात्। स्वस्तिक चतुष्पाद ब्रह्मा का, चारों दिशाओं, वर्णों, आश्रमों और लोकपालों का तथा चतुर्मुख ब्रह्मा का भी प्रतीक है। सूर्य का प्रतीक होने के नाते यह गति का प्रतीक तो है ही।

कुछ विद्वान् धन के आकार वाले अबाहुस्वस्तिक को दो रेखाओं के परस्पर मिलने के कारण मिथुन का द्योतक और सृष्टि का प्रतीक मानते हैं। कुछ अन्य लोग उसे प्रजनन-प्रतीक एवं उर्वरता-प्रतीक मानते हैं। योरोप का एक छोटा सा देश है लिथुआनिया जहाँ की भाषा संस्कृत के अधिक निकट है। लिथुआनिया में स्वस्तिक को उग्निस (अग्नि) का काम माना गया है। दूसरे शब्दों में अग्नि का मूल आकार है दो अरणियों को क्रास की भाँति आड़ा-टेढ़ा रखना जिससे उनके घर्षण से अग्नि का उत्पादन हो सके। और अग्नि ही हमारे जीवन का मूल आधार है। लिथुआनिया में स्वस्तिक को प्रकाश, अग्नि, स्वास्थ्य और समृद्धि का सूचक बताया गया है। थोड़ा-थोड़ा रूप बदलकर इसी को मिस्र में 'बार ऑव आइसिस' और यूनान में वहां के कामदेव वीनस का चिहन् मानते हैं।

अपनी इस विविधरूपा प्रतीकात्मकता के कारण स्वस्तिक भारतीय जीवन का सर्वाधिक लोकप्रिय प्रतीक बन गया। भारतीय मूर्तिकला, उत्कीर्णकला, मृण्मूर्तिकला, मृद्‌भाडकला, दन्तकला, वास्तुकला, मुद्राकला तथा चित्रकला में सर्वत्र स्वस्तिक को रूपायित किया गया है। सिक्कों तथा अभिलेखों में भी स्वस्तिक प्रतीक के अंकन पाए गए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मानव-जन्म से ही स्वस्तिक का संबंध हमारे जीवन से जुड़ गया जो आज भी ज्यों का त्यों पाया जाता है। पुत्र-जन्म, विवाह अथवा कोई भी धार्मिक या मांगलिक उत्सव हो, उसका प्रारंभ स्वस्तिक-पूजन से ही किया जाता है। आज भी सोने-चाँदी के व्यापारियों की दुकानों तथा उनकी बहियों में स्वस्तिक का चिन्ह बनाया जाता है और उसकी पूजा की जाती है। बाणभट्ट के ग्रंथ कादम्बरी में चन्द्रापीड़ के जन्म के समय राजा तारापीड़ की रानी विलासवती के प्रसूतिगृह के वर्णन के संदर्भ में लोकाचार में निपुण बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों के द्वारा प्रसूतिगृह के द्वार के पक्खों पर गोबर से स्वस्तिकों को जो डिज़ाइन बनाने का उल्लेख आया है वह मध्यमणि के रूप में स्वस्तिक का उपयोग सर्वविदित है।

हमारे देश में स्वस्तिक का प्राचीनतम अंकन हड़प्पाकालीन मोहरों पर पाया गया है जहाँ उसके विविध रूप अभ्यंकित हैं। पिपरइवा से बुद्ध के अस्थि-कलश के साथ कुछ सोने के आभूषण भी मिले हैं जो प्रतीक-रूप में हैं। इनमें एक पर स्वस्तिक बना है। इसके बाद स्वस्तिक मौर्य-सम्राट अशोक के जौगड़-शिलाभिलेख में दिखलाई पड़ता है। मथुरा तथा अमरावती के उत्कीर्ण शिल्प में स्वस्तिक रूपायित है। मथुरा से मिले जैन आयामपट्टों पर अंकित अष्टमांगलिक प्रतीक के रूप में स्वस्तिक का अंकन कला की दृष्टि से सर्वाधिक आकर्षण एवं सर्वश्रेष्ठ है। कुशाणकालीन इन आयामपट्टों में से एक पर एक विशाल स्वस्तिक का रूपांकन है और इसलिए उसे 'स्वस्तिकपट्ट' की संज्ञा दी गई है। कौशाम्बी से मिली एक तोरण-बड़ेरी पर तथा एक बौद्ध आयामपट्ट पर (निर्माणकाल लगभग प्रथम शती ई० पू०) स्वस्तिक का एक जैसा चतुपर्णी स्वरूप द्रष्टव्य है। इस आयामपट्ट के बीच में पदचिन्ह थे जिनकी उंगलियों के सिरे भी स्वस्तिक-प्रतीक से अलंकृत हैं। नागार्जुनकोण्ड तथा अमरावती के बुद्धपदों में महापुरूष-लक्षण के रूप में अन्य प्रतीकों के साथ स्वस्तिक को भी उत्कीर्ण किया गया है। मथुरा के निकट सोंख की खुदाई में जर्मन पुरातत्वविद् प्रो० इटेर्ल को प्रथम शती ई० पू० का पकाई गई मिट्टी का एक पंचाडगुल मिला है। पाँचों खुली उंगलियों वाले इस हाथ की हथेली में इंद्रध्वज, नंदिपद तथा स्वस्तिक के प्रतीक अंकित हैं। अफगानिस्तान के बेग्राम (प्राचीन कापिशा नामक स्थान से पकाई गई मिट्टी की पालिशयुक्त एक ऐसी सुराही मिली है जो अंजलिबद्ध एक नारी-मूर्ति के रूप में है। उस नारी के भुजबंधों पर स्वस्तिक प्रतीक की पंक्ति बनी है। इसे विद्वानों ने किन्नरी-भाण्ड कहा है तथा इसका निर्माण प्रथम शती ई० पू० सुनिश्चित किया है। स्वस्तिक-पंक्ति से अलंकृत ऐसा ही एक मुत्फलक सोंख की खुदाई से प्राप्त हुआ है। अहिच्छत्रा तथा तक्षशिला से उत्खनित कुषाणयुगीन मुद्भाण्डों पर भी अन्य प्रतीकों के साथ स्वस्तिक उत्खचित है।

भारतीयों सिक्कों पर स्वस्तिक का अंकन प्रारंभ से ही किया जाने लगा था। पंचमार्क सिक्कों पर प्राय: चौकोर फलक के अंतर्गत स्वस्तिक का ठप्पा दिखाई पड़ता है। तक्षशिला, कौशाम्बी, अयोध्या तथा मालव—सिक्कों पर स्वस्तिक उत्कीर्ण पाया गया है। उज्जयिनी के कतिपय सिक्कों पर उज्जयिनी प्रतीक के चारों घेरों में स्वस्तिक के अंकन मिले हैं। सातवाहन, कुणिन्द, कुलूत तथा योधेय नरेशों ने भी अपने सिक्कों पर स्वस्तिक को प्रतिष्ठापित किया था।

भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रकला में स्वस्तिक के विविध रूप मिलते हैं। डॉ० जगदीशगुप्त ने पंचमढ़ी क्षेत्र के बनियाबेरी नामक गुफा के भीतरी और बाहरी पूजा-दृश्यों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। दोनों दृश्यों में एक विशाल स्वस्तिक है। भीतरी दृश्य में स्वस्तिक के चारों ओर विनम्र भाव से उस पर छत्र चढ़ाते हुए उपासक चित्रित हैं। बाहरी पूजा-दृश्य अधिक पुराना और आदिम रूप व्यक्त करता है. उसमें उपासक स्वस्तिक के दोनों ओर सहनर्तन की मुद्रा में प्रदर्शित हैं। बनियाबेरी के अलावा रौंप, सिंहनपुर, बरखेड़ा, अरवई तथा भीमबेटका के शिलाचित्रों में भी स्वस्तिक के अंकन चित्रित पाए गए हैं।

भारतीय अभिलेखों के आदि, मध्य तथा अंत में स्वस्तिक प्रतीक का अंकन पाया गया है। अशोक के जौगड़-शिलाभिलेख में स्वस्तिक के तीन प्रतीक उत्कीर्ण हैं। बराबर की पहाड़ी (बिहार) में स्थित कर्ण-गुहाभिलेखों में, खण्डगिरि के हाथीगुफा तथा सिंह गुहाभिलेखों में, मध्यप्रदेश के गुना जिले में स्थित चंदेरी शिलाभिलेख में, मथुरा के प्रस्तर-अभिलेखों में साँची एवं अमरावती के स्तूप-अभिलेखों में स्वस्तिक प्रतीक उत्कीर्ण हैं। खारवेल के हाथी गुफा-अभिलेख में, चंदेरी-शिलाभिलेख में तथा मथुरा के एक प्रस्तर-अभिलेख में स्वस्तिक प्रतीक को श्रीवत्स प्रतीक के संसर्ग में उकेरा गया है। श्री शिवराममूर्ति का कहना है कि 'स्वस्ति-श्री' लिखने की परंपरा के पीछे स्वस्तिक तथा श्रीवत्स

प्रतीकों की सार्वभौमिक मांगलिकता एवं समृद्धि का भाव सन्निहित है।

स्वस्तिक वस्तुत: एक विश्व-व्यापी परंपरा का प्रतीक है। अकेले भारत ही नहीं वरन् विश्व के अनेक देशों में स्वस्तिक अत्यंत प्राचीनकाल से पाया जाता रहा है। स्वस्तिक किसी धर्म-विशेष या जाति-विशेष का चिहन् न होकर सार्वजनीन तथा सार्वभौमिक प्रतीक है। इसका अस्तित्व असीरिया, बैक्ट्रिया, इंग्लैण्ड, साइप्रस, सीरिया, फारस, मिश्र, फ्रांस, जर्मनी, यूनान, इटली, नार्वे, स्वीडन, स्पेन, चिली, मध्य एशिया, मैक्सिको, जापान, चीन, कम्बोडिया, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया तथा अफ्रीका के कतिपय देशों में पाया गया है। डेनमार्क में यह प्रतीक कांस्यकालीन उपकरणों तथा मृद्भाण्डों पर उत्कीर्ण प्राप्त हुआ है। स्वीडन तथा नार्वे का युद्ध देवता है थोर और उसका शस्त्र है स्वस्तिक। तिब्बत के लामाओं के निवास-स्थान पर मंदिरों पर स्वस्तिक बना रहता है। तिब्बत की राजधानी लेह के निकट हेमिस के बौद्ध विहार में सन् १९९६ ई० में एक उत्सव मनाया गया, लामा ने नृत्य किया और अंत में विहार की कोष-पेटिका खोली गई तथा अगले ९ वर्ष के लिए पुन: बंद कर दी गई। पूर्व निर्वाचित सदस्यों के सम्मुख यह पेटिका जिस मोहर से बंद की गयी उसपर स्वस्तिक बना है। ईसाई गिरजाघरों में भी क्रॉस के रूप में अबाहु स्वस्तिक बना रहता है। पश्चिमी एशिया में सूसा से हित्तीयुग का एक ऐसा खिलौना मिला है जिस पर दो शीश वाली एक चिड़िया है और उस चिड़िया के वक्ष पर स्वस्तिक का एक प्रतीक बना है। सूसा तथा पर्सिपोलिस से मिले बर्तनों पर भी स्वस्तिक के चित्रण पाए गए हैं। आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के आदिवासी लोग आज भी स्वस्तिक को मंगल चिन्ह मानते हैं तथा जापान के लोग इसे 'मनजी' कहकर इसकी पूजा करते हैं।

भारतीय संदर्भ में भी स्वस्तिक का किसी विशेष धर्म या संप्रदाय से संबंध जोड़ना सत्य नहीं जान पड़ता है। भारत के जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण सभी धर्मों में स्वस्तिक को संपूज्य स्थान दिया गया है।

स्वस्तिक की भारतीय उत्पत्ति मानने वाले विद्वान ऐसा मानते हैं कि संस्कृत शब्द 'स्वस्ति' से ही इस प्रतीक का उद्घृत हुआ है। उनका कहना है कि संस्कृत शब्द 'स्वस्ति' पालि में 'सुति' बन जाता है। और पालि में लिखा गया 'सुति' शब्द स्वस्तिक प्रतीक का आकार ग्रहण कर लेता है। सी. एस. उपासक स्वस्तिक प्रतीक की उद्भावना ब्राह्मी के 'पु' अक्षर की चार आकृतियों में स्वीकार करते हैं। 'पुण्य' शब्द के प्रथम अक्षर 'पु' को यदि ऊपर नीचे और दाएँ-बाएँ एक साथ रक्खा जाये तो स्वस्तिक का आकार बनता है। कुछ अन्य विद्वानों को ब्राह्मी का मांगलिक अक्षर 'म' ही स्वस्तिक का प्रारंभिक रूप जान पड़ता है, अंतर केवल दो तिरछी रेखाओं की भिन्न स्थितियों का है।

कुछ अन्य विद्वानों ने स्वस्तिक के उद्भव का स्रोत ओंकार (ॐ) माना है। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के १९२१ ई० के जर्नल में श्रीयुत हरितकृष्ण देव ने एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने स्वस्तिक को ओंकार माना था। सन् १९६१ ई० में 'सरस्वती' की हीरक जयंती अंक में अवधवासी लाला सीताराम ने भी इस मत को स्वीकार किया है। उन्होंने छांदोग्य उपनिषद् तथा पाणिनि के सूत्र 'ओमभ्यादाने' (अष्टाध्यायी, ८/२/२७) के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि ओंकार की महिमा हमारे देश में प्राचीनकाल से थी और ब्राह्मी में ओंकार अथवा ओम (अ उ म) लिखने से स्वस्तिक का स्वरूप बनता है।

भारतीय तथा विश्व-कला में स्वस्तिक के विभिन्न रूप आँके गए हैं। सबसे सरल एवं संभवत: प्राथमिक स्वरूप गणित के धन-चिन्ह वाला अबाहु स्वस्तिक था। वही ब्राह्मी अक्षर 'क' का रूप भी था। उज्जयिनी, कौशाम्बी आदि स्थानों से मिले हुए ढले सिक्कों पर, बनियाबेरी एवं सिंहनपुर के शिलाचित्रों में, हड़प्पा की मोहरों पर तथा स्वेडन और डेनमार्क में ऐसे प्रतीकांकन मिले हैं। मालती

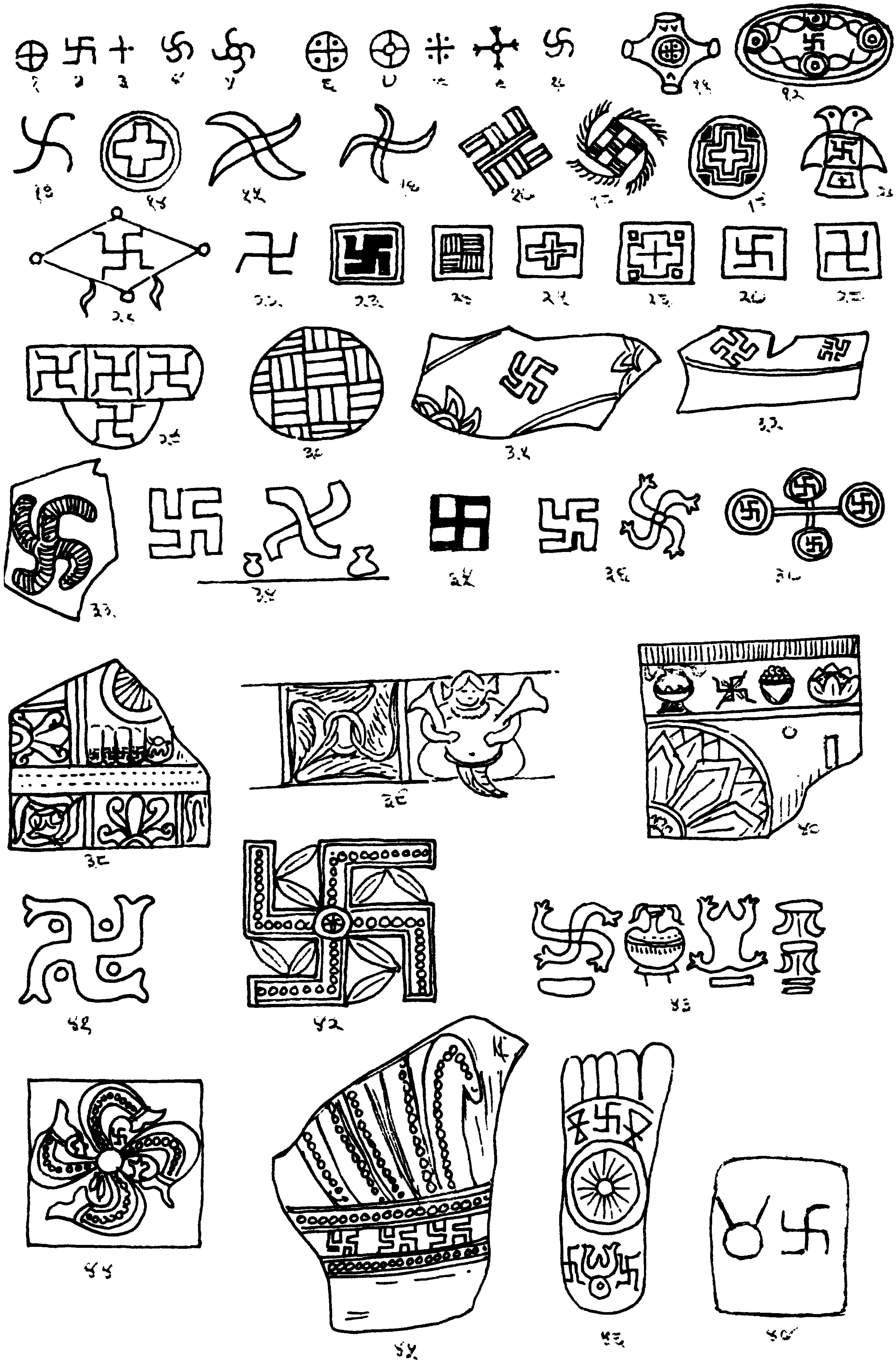
माधव में भवभूति ने हाथों से स्तनों को ढँकने वाली स्त्रियों की मुद्रा को स्वस्तिक कहा है— स्तनविनिहत इस्तस्वस्तिकाभिर्वधमिः । यहाँ एक-दूसरे पर तिरछे रक्खे हाथों वाली मुद्रा को ही स्वस्तिक कहा गया है।

स्वस्तिक विकास में अगला चरण अबाहु स्वस्तिक के चारों ओर चौकोर अथवा गोल घेरा था। स्वस्तिक का यह स्वरूप भारतीय सिक्कों पर द्रष्टव्य है। आगे चलकर स्वस्तिक सबाहु हो गया।अबाहु अब स्वस्तिक के चारों छोरों पर आड़ी भुजाएँ जोड़कर स्वस्तिक का यह पूर्ण विकसित स्वरूप अंकित किया गया। सबाहु स्वस्तिक वामावर्ती एवं दक्षिणावर्ती दोनों प्रकार से अभ्यंकित किया गया था।हड़प्पाकालीन मोहरों पर अनेक भारतीय अभिलेखों में, प्रागैतिहासिक शिला-चित्रों में तथा तक्षशिला से प्राप्त मृद्भाण्डों पर वामावर्ती एवं दक्षिणावर्ती दोनों प्रकार के स्वस्तिक द्रष्टव्य हैं। सिंधु घाटी-सभ्यता की कतिपय मोहरों पर अशोक के जौगड़-शिलाभिलेख में तथा कौशांबी से प्राप्त बुद्धपद में तो दोनों प्रकार के स्वस्तिक साथ-साथ उकेरे गए हैं। ऐसी स्थिति में कुछ लोगों का यह कथन सत्य नहीं जान पड़ता है कि भारतीय स्वस्तिक दाएँ से और ईसाई या जर्मनी स्वस्तिक बाएँ से बनाया जाता है। इसी के साथ यह कहना भी सही नहीं जान पड़ता है कि दक्षिणवर्ती स्वस्तिक शुभ और वामावर्ती स्वस्तिक अशुभ है। वस्तुतः पहले वामावर्ती एवं दक्षिणावर्ती स्वस्तिक समान रूप से संपूज्य समझे जाते थे। यदि ऐसा न होता तो दोनों प्रकार के स्वस्तिकों का अंकन साथ-साथ न पाया जाता। किंतु आगे चलकर भारत में दक्षिणावर्ती स्वस्तिक विशेष रूप से लोकप्रिय हो गया। ऐसा होने में संभवतः सूर्य की दक्षिणावर्ती गति ही आधार रही होगी। और तब से निरंतर दक्षिणावर्ती स्वस्तिक की परंपरा ही रूढ़ हो गयी। कुछ लोगों को यह भ्रम हो गया है कि वामावर्ती अथवा उल्टा स्वस्तिक प्रतीक प्राचीन और दक्षिणावर्ती स्वस्तिक अर्वाचीन है और उन्होंने उल्टे स्वस्तिक को सिंधुघाटी सभ्यता से अधिक प्राचीन मान लिया है। वस्तुस्थिति यह है कि वामावर्ती अर्थात् उल्टे स्वस्तिक की परंपरा प्रारंभ से लेकर द्वितीय शती ई० तक बराबर प्रचलित रही थी। ऐसे अंकन हड़प्पाकालीन मोहरों पर, मध्यप्रदेश के अंतर्गत स्थित बरखेड़ा के शिलालेखों में, अशोक के जौगड़ शिलाभिलेख में, बराबर पहाड़ी के कर्ण गुहाभिलेख में, पश्चिमी भारत स्थित कूड़ा गुहाभिलेखों, उदयगिरि-खण्डगिरि के गुहा-शिल्प में, शक क्षत्रय सोडाष के मथुरा-अभिलेख में, सोंख से उत्खनित मृण्पंचाडगुल में, अमरावती से प्राप्त बुद्धपदों पर तथा तक्षशिला के मृद्भाण्डों पर पाए जा चुके हैं। ऐसी स्थिति में उल्टे स्वस्तिक के अंकन की परंपरा को सिंधु सभ्यता से अधिक प्राचीन मानना नितांत असत्य और भ्रामक है।

स्वस्तिक का सर्वाधिक विकसित एवं अलंकृत स्वरूप हमें मथुरा के कुषाणकालीन जैन आयामपट्टों पर दिखाई देता है। दोहरी रेखाओं से बने गोले के मध्य अष्टदल कमल के चारों ओर मोतियों की पंक्ति से सजी चारों भुजाओं वाला स्वस्तिक इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। इस स्वस्तिक में चारों कोनों को मिलाने वाली चार कमल-पंखुड़ियां भी जोड़ दी गयी हैं। इसी प्रकार एक आयामपट्ट पर एक विशाल स्वस्तिक है जिसकी चारों भुजाएँ मोतियों से अलंकृत हैं तथा जिसकी भुजाओं के सिरे मत्स्याकृति जैसे हैं तथा उन्हें मालाओं से सजाया गया है। अमरावती तथा नागार्जुनकोण्ड के स्वस्तिकों के छोर त्रिदल बना दिए गए हैं। कौशाम्बी से प्राप्त तोरण बड़ेरी तथा बौद्ध आयामपट्ट पर स्वस्तिक का चतुर्पर्णी स्वरूप भी बड़ा ही मनोहर है।

स्वस्तिक प्रतीक का उद्‌भव मूलतः कहाँ हुआ, इस प्रश्न का सही उत्तर दे पाना कठिन है। वी. आर. रामचन्द्र भी स्वस्तिक का उद्‌भव भारत में हुआ मानते हैं। और यहीं से उसे काबुल, मिस्र तथा अन्य पश्चिमी देशों में गया समझते हैं। सर जॉन मार्शल स्वस्तिक को विश्व-व्यापी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार स्वस्तिक के उद्‌भव के मूल स्थान का पता लगाना असंभव है। स्वस्तिक के प्राचीनतम

अंकन डेनमार्क तथा नार्वे के कांस्ययुग तथा प्रारंभिक लौहयुग के आभूषणों तथा दैनिक उपयोग के उपकरणों पर, हड़प्पा-संस्कृति की मोहरों पर तथा हित्ती-सभ्यता के एक द्विमुखी ईगल पक्षी रूपी खिलौने पर पाए गए हैं। ऐसी स्थिति में आनंद कुमारस्वामी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि—'सहस्रों वर्ष पूर्व भारत उस 'प्राचीन पूर्व' का एक भाग था जो भूमध्यसागर से गंगाघाटी तक विस्तृत था। उस प्राचीन विश्व में प्रस्तर युग से लगभग समान संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ था जिसमें सर्वाधिक विस्तार वाले प्रतीकात्मक चिन्हों में स्वस्तिक भी था तथा जिसकी प्रतीकात्मकता सूर्य तथा अग्नि से संबंधित थी और इसका उद्‌भव भारत, दक्षिणी मेसोपोटामिया अथवा मिस्र में से कहीं भी हुआ होगा।' □



चित्र-परिचय

प्राचीन भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी

डॉ. मस्तराम कपूर

भारतीयों के संबंध में विदेशियों द्वारा कुछ 'मिथ' बनाए गए और उन्हें सुनियोजित शिक्षा प्रणाली द्वारा इस तरह प्रचारित किया गया कि यहाँ के शिक्षित लोगों के मन में भी इन मिथों पर आधारित मिथ्या धारणाएँ घर कर गईं। इस प्रकार का एक मिथ यह कि भारत कृषि प्रधान देश है और हमेशा कृषि प्रधान रहा है। आज भी हमारे पढ़े लिखे और जिम्मेदार अधिकारी इस वाक्य का अकसर प्रयोग करते देखे जाते हैं। इस मिथ का प्रचार करने वालों का वास्तविक प्रयोजन यह बताना है कि भारत अंग्रेजों के आने से पहले विज्ञान और प्रौद्योगिकी से बिलकुल अपरिचित था और पश्चिम के संपर्क से ही वहाँ विज्ञान आदि का विकास हुआ। दुर्भाग्य से स्कूल-कालेजों में जो इतिहास हमारे यहां पढ़ाए जाते हैं, उनसे भी कुछ इसी तरह का प्रभाव हमारे छात्रों पर पड़ता है।

गांधी अध्ययन अकादमी, हैदराबाद के तत्वावधान में प्रकाशित पुस्तक 'इंडियन साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी इन दि एटींथ सेंच्युरी' इस व्यापक मिथ्या धारणा को तोड़ती है और यह बताती है कि अंग्रेजों के आने से शतियों पहले भारत विज्ञान और टेक्नोलॉजी में यूरोपीय देशों से कई बातों में काफी आगे था।

इस पुस्तक के संपादक श्री धर्मपाल ने १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में यूरोपीय विद्वानों द्वारा लिखे गए १७ लेखों का संग्रह किया है। ये लेख ब्रिटिश अभिलेखागार से लिए गए हैं। इनके लेखक यूरोपीय सरकारों के सैनिक चिकित्सीय और प्रशासनिक अधिकारियों के रूप में, यात्रियों की हैसियत से अथवा पेरिस तथा लंदन की रायल सोसायटियों या लंदन की सोसायटी ऑफ आर्ट या ईसाई धर्म संस्थाओं के प्रतिनिधि के रूप में आए। सभी विद्वान अपने क्षेत्र के ख्यातनामा व्यक्ति थे और जिन विषयों पर उन्हें रिपोर्ट लिखनी थी उनके अधिकारी विद्वान थे। पुस्तक के आमुख लेखक विलियम ए. ब्लाइनपाइड ने इन विद्वानों के संबंध में कहा है कि इनकी स्थिति ११ वीं शताब्दी में आए अल्बरूनी की स्थिति से मिलती थी। अल्बरूनी भारत आया तो मुस्लिम शासन अभी स्थापित नहीं हुआ था। इन विद्वानों के आने के समय भी भारत में ब्रिटिश शासन स्थापित नहीं हुआ था। फिर भी अल्बरूनी की तरह इन विद्वानों के मन में अपनी जाति, अपनी संस्कृति की श्रेष्ठता के पूर्वाग्रह तथा भारत की श्रेष्ठता को संदेह की नज़र से देखने के भाव रहे होंगे तथापि अल्बरूनी की तरह इन विद्वानों

ने अपने बहुत से पूर्वाग्रहों पर काबू पा लिया तथा अपने विवरणों में काफी निष्पक्षता लाने की कोशिश की।

खगोल शास्त्र में रुचि रखनेवाले विद्वानों के लिए बनारस की वेधशाला आश्चर्य का विषय बनी हुई थी। सबसे पहले सर राबर्ट वार्कर ने इस वेधशाला को देखा और उसकी रिपोर्ट लंदन रायल सोसायटी के पत्र 'ट्रांजेक्शन' को भेजी जो १७७७ में छपी। अपनी रिपोर्ट में वे कहते हैं : मैंने बहुत सुना था कि यहाँ ब्राह्मण विद्वान सूर्य और चंद्र ग्रहण के समय की सूचना राजा को पहले ही दे देते थे। मुझे बताया गया कि कुछ विद्वान ही संस्कृत में लिखी पुस्तकों और सारणियों की सहायता से यह पूर्वानुमान लगा सकते हैं। लोगों से मुझे यह भी पता चला कि यहाँ एक पुरानी पत्थर की इमारत है जहां से खगोल का अध्ययन किया जाता है। मैं उस इमारत को देखने गया। गंगा के किनारे बनी इस इमारत की छत पर जब मैं पहुंचा तो मैंने आश्चर्य और संतोष के साथ देखा कि यहाँ कई उपकरण हैं। हालांकि इस वेधशाला को दो सौ साल पूर्व बना बताया जाता है, इसके उपकरणों पर बने माप के चिन्ह इतने स्पष्ट हैं कि वे किसी आधुनिक कलाकार का काम लगते हैं।

वेधशाला के उपकरणों का विवरण देने के बाद राबर्ट वार्कर लिखता है: काँच के उपकरणों की सहायता के बिना ये विद्वान खगोल पिंडों का अध्ययन करने में सफल हुए। इसका कारण संभवतः यह है कि यहाँ आसमान रात के समय, बरसात के दिनों को छोड़कर, बहुधा साफ रहता है। रात के इस मनोहर दृश्य की कल्पना करना उत्तरी जलवायु के इलाकों में रहने वालों के लिए बहुत मुश्किल है। आकाश पूर्ण स्वच्छ एवं शांत, बादल का एक टुकड़ा भी नहीं। असंख्य तारागणों से भरे प्रकाश में दर्शक आश्चर्य विमूढ़ हो जाता है। वे अंत में लिखते हैं कि इस वेधशाला का निर्माण जयसिंह के पुत्र मानसिंह ने आज से लगभग दो सौ साल पहले कराया था। वेधशाला के बाहर एक खूबसूरत मेहराब है जिस पर लगा चूने का पलस्तर इतना बढ़िया है कि देखने में यह संगमरमर का लगता है और बहुत पुरानी होते हुए भी यह ज्यों की त्यों है।

राबर्ट वार्कर के इस लेख से यूरोप के विद्वानों को यह जानकर बहुत परेशानी हुई होगी कि १६ वीं शताब्दी में भारत बिना आधुनिक यंत्रों की सहायता के खगोल पिंडों का इतनी सूक्ष्मता और यथार्थता के साथ अध्ययन कर सकता था।

बनारस की वेधशाला के संबंध में कुछ संकेत देने वाला एक और लेख रुबेन बरो द्वारा लिखित १७८३ में छपा। संभवतः १७७३ में 'ट्रांजेक्शन' में छपे राबर्ट वार्कर के लेख ने यूरोप के वैज्ञानिकों में काफी हलचल मचाई होगी। कुछ तो गोरांग श्रेष्ठता को धक्का लगते देख कर दु:खी भी हुए होंगे और कुछ विद्वान विज्ञान के नये क्षितिजों के उद्घाटन की संभावनाओं को देखकर प्रसन्न हुए होंगे। रुबेन बरो ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकर होकर आए थे और उन्होंने अपना लेख ब्रिटिश गर्वनर जनरल हेस्टिंग्ज को भेजा था। लेख का प्रयोजन संभवतः बनारस की वेधशाला की और विस्तृत तथा सूक्ष्म जाँच कराना था। निबंध के तीसरे पैराग्राफ में रुबेन बरो लिखते हैं : *गत शताब्दी के दौरान यूरोपीय विद्वानों के मन में अपनी योग्यता के बारे में जो पूर्वाग्रह थे, उसके बावजूद रायल सोसायटी के कुछ प्रारंभिक सदस्य भारत और चीन को विज्ञान की नयी दुनिया मानते थे और उसकी खोज के लिए उत्सुक दिखायी देते थे। उन्होंने खोज शुरू की किंतु कुछ गलत तरीके अपनाने के कारण वे अपनी कोशिशों में कामयाब नहीं हुए और यह मानकर बैठ गए कि उस प्राचीन विज्ञान के प्रमाण नष्ट हो चुके हैं। अगर यह खोज बंद न की गयी होती तो आज हमारा विज्ञान अधिक पूर्णता को प्राप्त किए होता।* रुबेन आगे लिखते हैं कि प्राचीन विज्ञान के अवशेषों की खोज में हमने ग्रीक और रोम के भग्नावशेषों को छान मारा है किंतु पुराने पूर्वाग्रहों की मौजूदगी के कारण हमने पूर्व इंडीज (अर्थात भारत) की उपेक्षा

की है। यद्यपि यह देश हर प्रकार के अजूबों से भरा है। हम यहाँ मनु की संहिता के काफी अर्वाचीन अनुवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं जान पाए। यूरोप के पुत्रों ने इस देश के बारे में इतनी जानकारी भी नहीं दी है जितनी हमने पूर्व में केवल हूण और बर्बर लोगों को ही भेज कर प्राप्त की होती। इसके बावजूद यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि यह देश विज्ञानों की जन्मभूमि है। क्योंकि इसके एक ओर स्थित चीन और दूसरी ओर स्थित बैबीलोन में नक्षत्रों के अध्ययन के लिए वेधशाला के अवशेष तो मिलते हैं और स्थानों पर नहीं।

इसके बाद बनारस की वेधशाला पर प्रकाश डालते हुए रुबेन बरो लिखते हैं : यह मानने के कारण मौजूद हैं कि भारत में विज्ञान का उत्कर्ष हुआ और वहाँ से वह विभिन्न मात्रा में अन्य देशों में पहुँचा। विभिन्न मात्रा का कारण था उन व्यक्तियों की योग्यता या रुझान जो दूसरे देशों से यहाँ अध्ययन के लिए आए और जिस प्रकार उन्होंने उस ज्ञान को अपने देश के प्रचलित सिद्धांतों के साथ मिलाया। यही कारण है कि चैल्डियनों ने भारत से यह तो सीखा कि पुच्छल तारे उत्केंद्रित कक्षा में भटकने वाले ग्रह हैं किंतु वे उनकी गति का आकलन करना नहीं सीख पाए। यही बात पैथोगोरस के संबंध में भी कही जा सकती है, जिन्हें पुच्छल तारों के स्वरूप का तो पता था किंतु गति के आकलन से वे अनजान थे। हम जानते हैं कि पैथोगोरस विद्याध्ययन के लिए भारत गया था और वहाँ से वापस आने पर उसे रेखागणित का इतना कम ज्ञान था कि वह यूक्लिड के 'सैंतालीसवें' को नयी खोज मानने लगा था। इसका कारण यही है कि वह भारतीय आकलन विधि को समझने में असमर्थ था और उसके कुछ सामान्य विचार ही ग्रहण किए थे जैसे ब्रह्मांड की प्रणाली, पुच्छल तारों का स्वरूप, अनेक विश्वों की कल्पना।... कुछ लोग भारत से प्राप्त ज्ञान को अपनी खोज कहलवाने के प्रयास में अपने ज्ञान को दूसरों से छिपा कर भी रखते होंगे। इस प्रकार बेरसस नामक चैल्डियन को नतोदर (कन्केव) सूर्य घड़ियों का आविष्कर्ता माना गया यद्यपि यह भारत का आविष्कार है, क्योंकि इसी प्रकार की सूर्य घड़ी बनारस की वेधशाला में है।

रुबेन बरो के इस लेख में अनेक रोचक तथ्य हैं। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि भारत में ब्राह्मण जाति के अनुरूप ही सोसायटी ऑफ जेसुआइट, चैल्डियन ज्योतिषी, पर्शियन मागी, बैबीलान के सूथसेयर्स, बाइबिल के पूर्वी बुद्धिमान, ज्योतिषी, नक्षत्रप्रेक्षक और चमत्कारिक लोगों का दबदबा समाज में रहा।... बाइबिल में उल्लिखित'अहाज़'की सूर्य घड़ी के बारे में रुबेन कहते हैं कि यह हिंदुस्तान के ब्राह्मणों ने बनाई थी। बाइबिल में आए अहाज़ और अन्य यहूदी राजाओं की मूर्तिपूजा का जिक्र करते हुए वे कहते हैं कि हिंदू धर्म भूमध्य सागर तक अधिकांश राज्यों में फैला होगा। यहूदी इसके संपर्क में आए होंगे और उन्होंने पत्थर की खुदी और ढली प्रतिमाएं बनानी शुरू की होंगी जिन्हें वे हरे पेड़ों के झुंड के नीचे पूजते थे और अपने बच्चों को फकीरों और ब्राह्मणों की तरह आग के आर-पार कराते थे।

रुबेन बरो के इस पत्र के प्रकाशित होने पर उन लोगों को और धक्का लगा होगा जो शस्त्र बल से पूर्वी देशों को जीतने निकले थे और काफी हद तक सफल भी हो रहे थे क्योंकि यूरोपीय देशों की श्रेष्ठता को किसी भी प्रकार कम किया जाना उन्हें पसंद नहीं था। इसके बाद रायल सोसायटी की तरफ से जो छानबीन करायी गई उसमें गोरांग श्रेष्ठता के पूर्वाग्रह ज्यादा प्रबल थे।

१७९२ में रायल सोसायटी के अनुरोध पर जे. एल. विलियम बनारस आया। उसने जो रिपोर्ट दी वह 'ट्रांजेक्शन' में १७९३ में छपी। विलियम ने बनारस के कुछ पंडितों से बातचीत करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि यह वेधशाला १६ वीं शताब्दी में नहीं बनी थी, जैसा कि राबर्ट वार्कर ने कहा था, बल्कि १७३७ में बनी थी। इसकी पुष्टि में बनारस के एक पंडित का वक्तव्य उद्धत किया गया जिसमें

उसने कहा: 'सब विद्वान मानते हैं कि इस वेधशाला का कभी उपयोग नहीं हुआ और यह उपयोग करने योग्य भी नहीं थी। इसका निर्माण शान दिखाने के लिए किया गया था न कि उपयोगी ज्ञान के संग्रह के लिए।' यह विद्वान रिपोर्ट के अनुसार नव-स्थापित कालेज में ज्योतिष का अध्यापक था। रिपोर्ट में कई उपकरणों के माप भी दिए गए थे लेकिन लेखक ने यह भी स्वीकार किया कि ज्योतिष का पर्याप्त ज्ञान न होने के कारण वे उपकरणों की बारीकियों को समझाने में असमर्थ हैं।

इसके बाद १७९८ में विलियम हंटर ने, जो मराठों की राजधानी पूना में ब्रिटिश रेजिडेंट था, पुन: इस प्रसंग को लिया। यह व्यक्ति गोरी चमड़ी वालों के कंधों पर पड़े दैवी भार के प्रति अधिक सतर्क था। वह लिखता है: 'मेरा हमेशा यह मत रहा है कि पूर्वी देशों को अपने शस्त्रों और अपनी नीति की श्रेष्ठता का बोध करा देने के बाद हमारे राष्ट्रीय गौरव के विस्तार के लिए सबसे अच्छा योगदान यूरोपीय विज्ञान के यहाँ प्रसार से दिया जा सकता है।' ज़ीज मोहम्मदशाही को उद्धृत करते हुए हंटर के लेख में कहा गया है कि जयसिंह ने हिंदु-मुस्लिम ज्योतिषियों को इकट्ठा करके पहले दिल्ली में और बाद में बनारस, उज्जैन, जयपुर और मथुरा में वेधशालाएँ बनवाई। फिर यह विवाद १९२० में उठा जब भारतीय सर्वेक्षण विभाग ने पुरानी वेधशालाओं की निर्देशिका छापी। इसमें कहा गया कि बनारस की वेधशाला मानमंदिर १७ वीं शताब्दी के शुरू में बनाया गया और जयसिंह ने १७३७ में उसमें नये उपकरण लगाए।

१७८९ में ज़ान प्लेफेयर ने 'रिमार्क्स आन दि एस्ट्रोनामी ऑफ दि ब्राह्मिन्स' लेख लिखा जो १७९० में प्रकाशित हुआ। इस लेख में लेखक ने कुछ ज्योतिष चक्रों का जिक्र किया है जो यूरोपीय विद्वानों को पूर्वी देशों, विशेषकर स्याम में मिले थे। ये चक्र या सारणियां ६३८ ईस्वी की हैं किंतु लेखक के अनुसार इनमें ध्यान देने वाली बात यह है कि इनकी मध्याह्न रेखा अर्थात् मेरेडियन स्याम नहीं बनारस है। दक्षिण भारत में मिले चक्रों में कलियुग के प्रारंभ की तारीख ३१०२ ई० पू० को ज्योतिषीय गणना के लिए आरंभिक तिथि माना गया है। प्लेफेयर प्रश्न उठाते हैं कि क्या कलियुग की यह घटना वास्तविक थी या काल्पनिक? क्या उस समय ग्रहों की स्थिति को वास्तव में देखा गया था या उसकी मात्र गणना की गई थी? वे अंत में इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उस तारीख को ग्रहों की स्थिति की जानकारी प्रेक्षण से ही मिल सकती है। स्याम के ज्योतिष चक्रों के संबंध में वे कहते हैं कि वहां के ज्योतिष का मूल भारत का ज्योतिष ही है।

भारतीय ज्योतिष पर टिप्पणी करते हुए लेखक आगे कहता है: इंटेग्रेल कैलकुलस और गुरूत्वाकर्षण सिद्धांत की सहायता के बिना ४६ शताब्दियों पीछे जाकर एक निश्चित समय में ग्रहों की स्थिति का पता लगाना संभव नहीं है। उन्होंने देखा कि कलियुग के आरंभ में ग्रहों की जो स्थिति बताई गई है, वह इंटेग्रेल कैलकुलस और गुरूत्वाकर्षण के आधुनिक सिद्धांतों से पाई गयी स्थिति के बिलकुल करीब हैं। ज्योतिष की सभी अन्य प्रणालियों से जैसे चैल्डियन, मिस्र और ग्रीक प्रणालियों से उस दिन ग्रहों की स्थिति काफी भिन्न निकलती है। इससे अनिवार्यत: यह निष्कर्ष निकलता है कि कलियुग के प्रारंभ में ग्रहों की स्थिति को पंडितों ने स्वयं देखा होगा और यह आश्चर्य की बात है उन्होंने इतना समय पहले बिना आधुनिक उपकरणों के उस स्थिति को ठीक-ठीक देखा। लेखक यह स्वीकार करता है कि उन्हें रेखागणित, गणित तथा कैलकुलस का आधुनिक त्रिज्यामितीय के समकक्ष ज्ञान रहा होगा।

कर्नल टी. डी. पीअर्स ने २२ सितंबर, १७९३ को मद्रास से रायल सोसायटी लंदन के सदस्यों और अध्यक्ष को पत्र लिखा जिसका विषय था, 'शनि का छठा उपग्रह।' कर्नल पीअर्स ने हैदरअली के साथ हुए युद्ध में भाग लिया था। उन्होंने फारसी में लिखी एक पुस्तक पत्र के साथ भेजी जिसमें ग्रहों के चित्र भी

दिए गए थे तथा शनि, वृहस्पति, शुक्र आदि ग्रहों को मानवाकृतियों के रूप में चित्रित किया गया था। इन चित्रों की तरफ ध्यान दिलाते हुए पीअर्स ने रायल सोसायटी को लिखा कि इसमें वृहस्पति को बूढ़े आदमी के रूप में चित्रित किया गया है और उसके गिर्द चार लड़कियां नाच रही हैं तथा शनि को सात छल्लों के साथ दिखाया गया है। इसका अर्थ था कि वृहस्पति के चार उपग्रह और शनि के सात उपग्रह भारत के खगोल शास्त्रियों में माने जाते हैं। लेखक अपने पत्र में कहता है : 'यूरोप के विद्वानों ने शनि के पांच उपग्रह ही देखे हैं। यदि इस स्पष्टीकरण को कोई इस आधार पर न माने कि प्राचीन समय के भारतीयों के पास उपकरण नहीं थे जिनसे कि उपग्रहों को देखा जा सकता था तो मैं कहूंगा कि हम जो बात सिद्ध करना चाहते हैं वह इससे और स्पष्ट होती है और भविष्य में शनि के छठे उपग्रह का पता लग जाता है तो यह इस कथन के पक्ष में जाएगा कि भारतीय वैज्ञानिकों के पास उपकरण थे। मैं इस बात पर अब यकीन करने लगा हूं कि उनके पास हमारे उपकरणों की तुलना में बेहतर उपकरण थे।' अपने लेख में आगे चलकर वे अलिफलैला की कहानी का जिक्र करते हुए परी बानो द्वारा तीन शाहजादों को दी गई तीन चमत्कारी वस्तुओं का हवाला देते हैं और उड़ने वाले गलीचे, करामाती सेव के साथ उस उपकरण का विवरण देते हैं जिसकी सहायता से दूर स्थित चीज को देखा जा सकता था। इस वस्तु को कहानी में हाथीदाँत की नली कहा गया है जिसके दोनों तरफ काँच लगे हुए थे। इस कथा प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए कर्नल पीअर्स ने विश्वास जाहिर किया कि टेलीस्कोप जैसी किसी चीज का पुराने जमाने में प्रचलन रहा होगा।

यूरोप के खगोल शास्त्रियों को १६०९ से पहले वृहस्पति के चार उपग्रहों का पता नहीं था किंतु बाद में वहां के विद्वानों ने चार उपग्रहों को देखा और उन्हें झटके वाली गति के कारण चार नर्तकों के रूप में चित्रित किया। किंतु शनि के सात उपग्रहों की बात तो उस समय सब को आश्चर्य में डालने वाली थी क्योंकि कर्नल पीअर्स के पत्र के समय तक यूरोप के वैज्ञानिकों को छठे उपग्रह का पता नहीं चला था। उसे पहले पहल हर्शेल द्वारा २८ अगस्त १७८९ को देखा गया और सातवें उपग्रह का पता तो १७ सितबंर, १७८९ को चला जब हर्शेल ने अपना ४० फुट लंबा टेलीस्कोप बनाया। शनि के सभी उपग्रह इतने छोटे और धरती से इतनी दूर हैं कि उन्हें देखने के लिए बढ़िया टेलीस्कोप की सहायता जरूरी है। संभवतः इसीलिए कर्नल पीअर्स को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि प्राचीन भारतीय खगोल शास्त्रियों के पास आधुनिक टेलीस्कोप जैसे उपकरण रहे होंगे।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी के रूप में भारत आए रुबेन बरो ने जिन्होंने बनारस की वेधशाला के संबंध में हेस्टिंग्ज को लिखा था, १७९० में भारत में बीज गणित की प्रगति पर भी एक लेख लिखा जिसमें उन्होंने बताया कि हिंदू बाइनामिचल थियोरम (द्विपद प्रमेय) से भली भाँति परिचित थे। लेख-के आरंभ में वे कहते हैं कि हिंदू धर्म हिंदुस्तान से सारी दुनिया में फैला। इसके चिन्ह सभी उत्तरी देशों में और हर देश की पूजा प्रणाली में मिलते हैं। इंग्लैण्ड का स्टोनहेंज बौद्ध मंदिर है।गणित, ज्योतिष, नक्षत्र विज्ञान, छुट्टिया, खेल, तारों और नक्षत्र-समूहों के नाम, प्राचीन स्मारक, कानून और यहाँ तक कि विभिन्न देशों की भाषाओं में भारत की छाप दिखाई देती है। सूर्य और अग्नि पूजा, मानव और पशु बलि विश्वजनीन बातें हैं। पापिस्ट (पोप् पूजक) लोगों के धार्मिक उत्सव फकीरों और गोसाइयों की याद दिलाते हैं। ईसाई साधु भारत के बैरागियों की नकल करते हैं। उत्तरी देशों का नरक भी बाइबिल का नरक नहीं है बल्कि हिंदुओं का नरक लगता है। मुझे आश्चर्य नहीं होगा यदि सेंट पैट्रिक की पर्गेटरी में वर्णित एक सिपाही के नरक देखने की कथा संस्कृत में उपलब्ध एक कथा का रूपांतरण मात्र हो।... इसमें तो अब संदेह ही नहीं रहा है कि ब्रिटिश ड्रुइड़ द्विज अथवा द्रविड़, ब्राह्मण थे। यह संभव नहीं कि वे सभी मारे गए हों और उनकी सारी विद्या नष्ट हो गई हो। बहुत

संभव है वे स्कूल शिक्षा, चिनाई मिस्तरी या भविष्य वक्ता के रूप में जीवित रहे हों और इस प्रकार उनकी विद्या पीढ़ी दर पीढ़ी बरकरार रही हो। लाक को मिले एक पुराने दस्तावेज से इस संभावना की पुष्टि होती है। बेडे जो लगभग १२०० साल पहले हुआ, जब ब्रिटेन में ड्रुइड् थे, और जिसका अनुवाद चॉसर द्वारा किया गर.। लगता है, इस बात का संकेत है कि हमारे विज्ञान अरबों से संबंधित न हो कर हिंदुओं से संबंधित थे...।'

द्विपद प्रमेय के बारे में लेखक लिखता है कि इस प्रमेय का आविष्कारकर्ता न्यूटन को ही माना जाता है किंतु संस्कृत ग्रंथ में मिले एक उदाहरण से स्पष्ट होता है कि हिंदू इस प्रमेय से भली भाँति परिचित थे। संस्कृत ग्रंथ में राजा के एक महल का उदाहरण है जिसके आठ दरवाजे हैं। ये आठ दरवाजे पहले एक-एक करके, फिर दो-दो, फिर तीन-तीन और इसी तरह आगे जाते हुए अंत में आठों एक साथ खोले जाने हैं। प्रश्न है कि कुल कितनी बार दरवाजे खुलेंगे? इसके सामाधान के लिए निम्नलिखित सारणी दी गई है:

८	७	६	५	४	३	२	१
१	२	३	४	५	६	७	८

इस सूत्र के अनुसार आठ को एक से भाग देने पर जो अंक आठ आता है, वह एक-एक कर दरवाजा खोलने की बारंबारता का अंक है। इस अंक को अगले अंक सात से गुणा कर दो से भाग दिया जाए तो प्राप्त अंक २८ दो-दो करके दरवाजा खुलने की बारंबारता का अंक है। इसी प्रकार क्रमशः आगे बढ़ते हुए कुल २५६ बार दरवाजा खुलता है।

यह उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि हिंदुस्तान के प्राचीन गणितज्ञों के लिए द्विपद प्रमेय एक सुपरिचित चीज़ थी।

किंतु हिंदुस्तान के बीज गणित को प्रकाश में लाने का काम एच. टी. कोलब्रुक ने किया जिन्होंने ब्रह्मगुप्त और भास्कराचार्य के संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद प्रस्तुत किया। 'हिंदू अलजबरा' शीर्षक का लेख इस पुस्तक की भूमिका के रूप में लिखा गया जो १८१७ में प्रकाशित हुआ।

निबंध के शुरू में कोलब्रुक यह प्रश्न उठाते हैं कि गणित विज्ञान के इतिहास में यह सवाल लंबे समय से बना हुआ है कि बीज गणित का विश्लेषण किस की देन है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक यूरोप को यह ज्ञान अरबी भाषा से मिला किंतु अरब के विद्वान बीज गणित के आविष्कार का स्वयं ही दावा नहीं करते। समान्यतः अरबी विद्वान अविष्कारकर्ता नहीं, विद्वान थे। अरबों के माध्यम से आधुनिक यूरोप को यह ज्ञान प्राप्त होने से बहुत पहले ये भारत में बहुत ऊँचाई तक पहुंचा था। कोलब्रुक द्वारा प्रस्तुत पुस्तक में भास्कराचार्य की कृतियाँ 'बीज गणित' और लीलावती' (जो उनके ग्रंथ 'सिद्धांत शिरोमणि' का अंग है।) और ब्रहमगुप्त की कृतियाँ ('गणिताध्याय' और कूटकाध्याय') जो उनके ब्रह्म सिद्धांत' से ली गई है। संकलित की गई हैं।

इसके बाद कोलब्रुक इन विद्वानों का काल निर्धारित करता है। भास्कराचार्य की कृतियों का समय अंतःसाक्ष्यों के आधार पर ११५० ई० निर्धारित किया जाता है। भास्कराचार्य अपने प्रबंध में अपने पूर्ववर्ती ब्रह्मगुप्त, श्रीधर और पद्मनाथ का जिक्र करता है। इसके अतिरिक्त आर्यभट्ट, चतुर्वेद पृथुदास स्वामी का उल्लेख है। श्री डैविस ने ब्रह्मगुप्त का समय ईसा की सातवीं शताब्दी माना है किंतु विलियम ने जो उज्जयनी में कई वर्ष रहे, वहाँ के पंडितों से पूछताछ करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि ब्रह्मगुप्त शक संवत् ५५० या ईस्वी सन् ६२८ में रहे और चूँकि उन पंडितों ने भास्कराचार्य की जो तारीख दी थी वह सही थी, अतः उन्होंने ब्रह्मगुप्त का समय सन् ६२८ स्थिर किया। चूँकि अरबों

में बीज गणित का ज्ञान ब्रह्मगुप्त के समय ही हुआ अतः यह स्पष्ट है कि अरबों द्वारा बीज गणित का ज्ञान प्राप्त करने से पहले भारत में यह विज्ञान विकसित अवस्था में था।

किंतु ब्रह्मगुप्त की कृतियाँ भी बीज गणित की प्राचीनतम रचनाएं नहीं है। भास्कर अपने ग्रंथों में कई स्थानों पर आर्यभट्ट का उल्लेख करते हैं। आर्यभट्ट, वारामिहर और ब्रह्मगुप्त से भी पहले हुए क्योंकि इन दोनों की रचनाओं में भी उनका उल्लेख हुआ है। आर्यभट्ट को पराशर का उत्तराधिकारी माना गया है। अनेक साक्ष्यों पर विचार करने के बाद कोलब्रुक आर्यभट्ट को ग्रीक बीज गणितज्ञ डायाफेंटस का समकालीन मानते हुए उनका समय ३६० ई० निश्चित करते हैं किंतु यह भी कहते हैं कि उस समय हिंदुस्तान में बीजगणित जिस सीमा तक बढ़ा था उस सीमा तक यूनान का बीजगणित आगे बढ़ा नहीं दिखायी देता।

यूरोपीय वैज्ञानिकों द्वारा टीके की ईजाद से बहुत पहले भारत में चेचक की रोकथाम के लिए टीके का व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाता था। इस तथ्य पर प्रकाश डालने वाला लेख जे. जेड. हौलवेल ने १७६७ में लिखा। यह लंदन के कालेज ऑफ फिजिशियन्स के सदस्यों और अध्यक्ष के नाम लिखे पत्र के रूप में है। इस पत्र से भी पहले रो. कोल्ट ने डॉ० ओलिवा कोल्ट को एक पत्र में इस चिकित्सा पद्धति की जानकारी दी थी। हौलवेल के पत्र में टीकों की पद्धति का संपूर्ण विवरण दिया गया है और कहा गया है कि टीका लगवाने वाले १० लाख लोगों में एक के रोगग्रस्त होने की संभावना पायी गयी है, जो निश्चय ही अत्यंत विस्मयकारी है।

टीका देने की विधि बताते हुए हौलवेल लिखते हैं कि अप्रैल-जून के महीनों में बनारस आदि स्थानों के डॉक्टर घर-घर टीके लगाने के लिए आते हैं। जो लोग टीका लगवाने वाले होते हैं वे एक महीना पहले मांस मछली का सेवन बंद कर देते हैं। टीके चांदी या लोहे के औजार से कुहनी के ऊपर या कुहनी और कलाई के बीच त्वचा छीलकर लगाए जाते हैं। टीका लगाने से पहले रूई या कपड़े से उस स्थान को रगड़ा जाता है। फिर गले में लटकी पोटली से टीका लगाने वाली दवाई लगी रूई या कपड़े को गंगाजल में भिगो कर जख्म पर लगाते हैं और पट्टी बाँध देते हैं। तीसरे दिन टीका लगवाने वाले को बुखार होता है और पांचवे दिन से टीके वाले हिस्से पर फफोले उठते हैं जो दो तीन दिन में अपने आप सूखकर निकल जाते हैं और रोगी आने वाली बीमारी से लड़ने के लिए सक्षम हो जाता है।

हौलवेल बताते हैं कि टीकों में पिछले साल के कृत्रिम फफोले से लिया गया द्रव इस्तेमाल किया जाता है। तीन चार साल पुराने द्रव का इस्तेमाल भी कभी होता है किंतु एक साल पुराने द्रव को ज्यादा अच्छा माना जाता है। हौलवेल कहता है कि ये हिंदी डॉक्टर बीमारी का कारण वातावरण में पलने वाले अनेक सूक्ष्म जीवों को मानते हैं जो भोजन और सांस के रास्ते आदमी के भीतर प्रवेश करते रहते हैं और मरते नहीं। रक्त में पहुंचकर वे बढ़ते हैं और फिर त्वचा से फूटकर निकलते हैं। बंगाल में यह बीमारी हर सात साल के बाद महामारी के रूप में फैलती है। इसके आगमन के पूर्व यूरोप के लोग अपने घरों को छोड़ कर चले जाते हैं। किंतु वे लोग जो टीके लगवाते हैं, इस बीमारी से बचे रहते हैं। टीका लगाने वाले प्रत्येक घर से कुछ कौड़ियाँ (एक पैंस के बराबर) फीस लेते हैं।

पुस्तक में दिए गए अन्य लेखों में मद्रास में मोर्टर बनाने की विधि आइजक पाइक का लेख; बर्फ जमाने की विधि पर राबर्ट वार्कर का लेख, कागज बनाने की विधि पर ले० कर्नल आयरनसाइड का लेख और बेंजामिन हेन, कैप्टन जे. कैंबल तथा मेजर फ्रैंकलिन के लौह धातु की निर्माण विधि पर लेख सम्मिलित किए गए हैं। कृषि कार्य में सिंचाई की प्रचलित विधियों तथा ड्रिल हल के प्रचलन की जानकारी एलेक्जेंडर वाकर तथा थास हालकोट ने दी थी। इन लेखों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि

भारत उस समय इस्पात, कागज और सीमेंट के निर्माण में यूरोप की तुलना में ज्यादा अच्छी विधियों का इस्तेमाल करता था। इस्पात बनाने के लिए मूल लौह धातु को सीधे इस्पात में बदलने की विधि जानता था और इसके लिए हाइड्रोजन युक्त रिक्त स्थान का उपयोग करता था। यह ठीक है कि हिंदुस्तान में इस्पात आदि के बड़े-बड़े कारखाने नहीं थे, छोटी भट्ठियों से ही काम लिया जाता था किंतु ये छोटी-छोटी भट्ठियां हजारों की तादाद में होती थीं और उनसे अनगनित लोगों को रोजगार मिलता था। यही स्थिति अन्य उद्योगों की भी थी। भारतीय उद्योगों के इस पहलू पर टिप्पणी करते हुए संपादक श्री धर्मपाल कहते हैं कि हमारे उद्योगों का संगठन विकेंद्रित राजनीति की जरूरतों के अनुरूप था।

उस समय के भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की स्थिति को देखते हुए ही संभवत: वाल्टेयर ने कहा था: 'अगर हिंदुस्तान के लोग तातारों और हम लोगों (यूरोप के लोगों) के संपर्क में न आए होते तो वह दुनिया का सबसे सुखी देश होता।'

लेकिन यूरोप के विद्वानों में भारत के प्रति जो आदर भाव १८ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दिखाई देता है, वह साम्राज्यवादी लोलुपता के नीचे लगातार दबता गया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने बंगाल जैसे प्रांतों से इतना भारी लगान वसूलना शुरू किया कि लोग भुखमरी का शिकार होने लगे। विदेशी माल से भारतीय बाजारों को पाटा जाने लगा जिससे सब उद्योग चौपट हो गये। फिर मैकाले जैसे लोगों ने ऐसी शिक्षा चलाई कि उसमें दीक्षित लोग स्वयं अपने को हीन मानने लगे। ऐसे ही लोगों के बारे में मैकाले ने शिक्षा नीति पर अपनी टिप्पणी में लिखा: 'मुझे उनमें से एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिला जो यह न मानता हो कि यूरोप की लायब्रेरी का एक शेल्फ भारत और अरब के समस्त साहित्य से भी अधिक कीमती है।'

□

भारतीय चित्रकला की एक विशिष्ट विधा—पट चित्रण

दिनेशचंद्र अग्रवाल

प्रत्येक राष्ट्र, जाति अथवा युग अपनी एक विशिष्ट संस्कृति का निर्माण किया करता है: कालांतर में उसकी सांस्कृतिक उपलब्धियाँ उसी की पर्याय बन जाती हैं। युग-युगों की प्राचीन अनगिनत कलाकृतियों के रूप में विविध सांस्कृतिक उपलब्धियों के अक्षय कोष का अनुभव हमें भारतीय कला तथा संस्कृति के अनुशीलन से हो जाता है। प्राचीन काल से ही यहाँ के शिल्पियों तथा साहित्यकारों ने कला-सृजन की विविध विधाओं के माध्यम से अपने समाज की अभिरूचियों को परिष्कृत तथा अभिवृद्ध किया है। जिसके फलस्वरूप भारतीय संस्कृति आज भी विश्व में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है। प्राचीन वाङ्‌मय तथा असंख्य पुरातन कला-सामग्री इस तथ्य के साक्षी हैं कि सदियों पूर्व भी समाज में ललित कलाओं के प्रति प्रगाढ़ रूचि व्याप्त थी तथा चित्रकला तो समाज में सर्वाधिक लोकप्रिय थी। चित्रण के लिये विविध विधाओं यथा—शिलाभित्ति, शिलापट्ट, काष्टपट्ट, कागज, विशेष रूप से तैयार किया गया पलस्तर (भित्ति पर), मिट्टी के बर्तनों की ऊपरी सतह, हाथी दांत, भोजपत्र, तालपत्र तथा पशुचर्म के अतिरिक्त वस्त्रपट (कपड़े) को भी उपयोग में लाया जाता था। विश्व में केवल भारत ही ऐसा देश है जहां अति प्राचीन काल में पटचित्रण की प्रथा का सर्वप्रथम उद्भव हुआ था तथा सदियों तक यह विधा तथा अभ्यास अधिकाधिक उन्नत तथा परिष्कृत होकर, कलाकारों की भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनते रहे।

यद्यपि प्राचीन काल के असंख्य पटचित्र काल के हाथों नष्ट हो गये किंतु उनके अस्तित्व तथा प्रचलन की अनुभूति साहित्यिक साक्ष्यों से मिल जाती है (शिलप्पादिकारम्, संपादित-१९३९, सर्ग-१३/पृ० २०६/पंक्ति-१६८-१७९) 'मेदिनी कोष' में पट तथा 'चित्रपट' को पर्यायवाची माना गया है, पालिश किये हुए (ओपदार) काष्ट फलकों तथा कपड़ों पर चित्रकारी का उल्लेख मिलता है (संयुक्त निकाय-२/१०१-१०२ व ३/१५२) बुद्धकोष कृत 'विसुद्धिमग्ग'-५३५ में चित्र के आधार (सपोर्ट) के लिये कपड़े के प्रयोग का संदर्भ मिलता है। 'महावंश'-२७/१८ में वस्त्र पर एक राजमहल की आकृति के रेखांकन का वर्णन है। 'मंजूश्री मूल कल्प' में वस्त्र पट पर चित्रण के अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि तब चित्रण हेतु वस्त्र पट का निर्माण एक विशुद्ध कुमारी कन्या द्वारा संपन्न होता था तथा एक विशेष अनुष्ठान पर ही यह कार्य होता था। उक्त वाङ्‌मय ई. पू. प्रथम शती तक के हैं।

इनके पश्चात् दूसरी-तीसरी ई. कालीन 'कामसूत्र' में 'आख्यान पट' का संदर्भ मिलता है जो वस्तुतः पटचित्र ही है जिसपर किसी कथा (आख्यान) की अभिव्यक्ति चित्रों द्वारा होती थी। इसके अतिरिक्त 'कामदेव पट' तथा लक्ष्मी पट' आदि के रूप में भी अन्य देवी-देवताओं के 'ध्यान पट' बनाये जाते थे जिनका उपयोग पूजा तथा सजावट में होता था। अधिक लंबाई वाले पट चित्रों को चौड़ाई के बल लपेट कर रखा जाता था, अतः इनको कुंडलित पट कहा जाता था तथा इच्छानुसार कभी भी फैलाया जा सकता था ('सर्व कुंडलित पट उद्वेलय', 'उदय सुंदरी कथा') कुंडलित पटों को सुरक्षित रखने के लिये रेशमी वस्त्र से बने खोल (आवेश्उन) रखा जाता था (प्रकृष्ट चीन कर्पट प्रसेविकाया सयत्नमाकृष्य चित्रपटम्'—तिलकमंजरी) भास कृत 'दूत वाक्य' में 'द्रौपदी के शाम्बर कर्षण चित्रपट' का वर्णन दुर्योधन द्वारा कराया जाता है जिसे देखकर श्री कृष्ण भी कह उठते हैं—'अहो दर्शनीयो यं चित्रपटः।' स्कन्द पुराण (८०० ई.) के 'काशीखण्ड' में एक ऐसे चित्रपट का विवरण मिलता है जिसमें समस्त काशी नगरी के विन्यास पं० हरिस्वामी की कन्या कर्णाट देश की राजकुमारी कलावती के रूप में जन्म लेती है। जब वह काशी का उक्त चित्रपट देखती है तो उसे अपने पूर्व जन्म के संस्कारों की स्मृति हो जाती है।

अनुमानतः पांचवी शती ई. में कवि विशाखदत्त द्वारा लिखित 'मुद्राराक्षस' से ज्ञात होता है कि उस समय के भिखारी मानव-जीवन की नश्वरता तथा यमराज का त्रास जन साधारण को दिखाने के लिये कृतांत की आकृतियों वाले चित्रपट लिये घूमा करते थे और गा-गा कर लोगों को अपना संदेश सुनाते थे। इसी भावाभिव्यक्ति का एक चित्र अजंता की गुफाओं के भित्ति चित्रों में द्रष्टव्य है (औंध प्लेट सं० ७४) जिसमें कुछ नग्न क्षपणकों का दल चला आ रहा है। उनमें से एक तो इतना मोटा है कि दूसरों का सहारा लेकर चल पा रहा है। इसी मंडली के एक सदस्य के हाथ में एक लग्गी है जिसपर उक्त प्रकार का चित्रपट लटक रहा है।

सातवीं शती ई. में कवि बाण भट्ट कृत 'हर्ष चरितम्' में राजा हर्ष जब नगर के हाट से गुजरे तो उन्होंने एक यमपट्टिक (व्यक्ति जो यमराज की आकृति वाला चित्रपट लिये घूमता था) को देखा। बहुत से बालकों ने तमाशा देखने के कुतूहल से उसे घेरा हुआ था, उसने बायें हाथ से ऊंची लाठी के ऊपरी सिरे पर एक चित्रपट फैला रखा था जिसमें भयंकर भैंसे पर सवार यमराज (प्रेतनाथ) की आकृति चित्रित थी। वह अपने दायें हाथ में लिये एक सरकंडे द्वारा संकेत कर-करके लोगों को चित्र दिखाता हुआ परलोक में मिलने वाली नारकीय यातनाओं का वर्णन कर रहा था (प्रविशन्नेवच रिपणिवर्लनि... यमपट्टिकं ददर्श।)

'सुप्रभेदागम्' में 'पटे पट्टे कुड्ये वा चित्र सम्भवः' से ज्ञात होता है कि भित्ति व काष्ट पट्ट के अतिरिक्त वस्त्र पर भी चित्रण का प्रचलन प्रचुर रूप से होता रहा था। इस दृष्टि से जैन वाङ्मों में प्रशस्त कला विषयक कई उल्लेख बड़े महत्व के हैं। वीरभद्र के शिष्य उद्योतन सूरि द्वारा राजस्थान में जालौर स्थान पर ७७८-७७९ ई. में प्राकृत भाषा में रचित 'कुवलय-माला-कहा' नामक ग्रंथ में जिस संसार-चक्र-पट का उल्लेख किया गया है वह स्पष्टतः वस्त्र पट पर बने चित्र का साक्ष्य ही है, इस पट में स्वर्ग के विपरीत मानव जीवन के दुःखों तथा निरर्थकताओं की अभिव्यक्ति है। यह पट प्रशंसनीय माना गया है। इसी प्रकार जिनसेन प्रथम (८३० ई.) ने अपने ग्रंथ 'आदि पुराण' में एक जैन नैत्यालय में चित्रित पट्ट के प्रदर्शित किये जाने का उल्लेख किया है जिनपर तीर्थंकरों, पहुँचे हुए जैन साधुओं तथा चक्रवर्ती राजाओं के जीवन-चरित्र को चित्रस्थ किया गया है। इनसे ज्ञात होता है कि चित्र पटों या पट्टकों की परंपरा जैन संप्रदाय में व्यापक रूप से प्रचलित थी। यहाँ स्मरणीय है कि पट को ग्रंथों की प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा में 'पट्ट' भी लिखा जाता था, अतएव इसमें भ्रांति का औचित्य नहीं है। इन

प्रारंभिक पट चित्रों को कालांतर में अनेक जैन पटचित्रों का उद्भाषक माना जाना चाहिये। (मोतीचन्द्र—'जैन मिनियेचर पेंटिंग्स फ्रॉम वेस्टर्न इंडिया'-पृ० ४६)

ग्यारहवीं शती ई. के वास्तु शास्त्र संबंधी ग्रंथ 'समरांगण सूत्रधार' तथा अन्य महत्वपूर्ण शिल्प ग्रंथ 'शिल्परत्नम्' में तो पटचित्र-निर्माण की आद्यंत विधि के सविस्तार से ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल में चित्रकला के अन्य उपादानों की भाँति पटचित्रण का अभ्यास परिष्कृत तथा उन्नत स्तर पर पहुँच चुका था। दसवीं-ग्यारहवी शती ई. कालीन धनपाल कृत 'तिलकमंजरी' में एक चित्रपट का वर्णन बड़ा रूचिकर हुआ है। जिसके अनुसार गंधर्व नामक चित्रकार अति सुंदर व दिव्य चित्रपट तैयार करता है जिसके सौंदर्य की प्रशंसा जब राजकुमार से की जाती है तो वह अपनी प्रतिहारिनी से पूछता है—'भद्रे किमत्र लिखितम्'—अर्थात्, हे भद्रे, यहां क्या चित्रित है? वह प्रतिहारिनी उस पट को खोलकर फैला देती है (विस्तरिते पुरस्तात् तंत्) और तब वह राजकुमार एक दिव्य कन्या का चित्र उसमें देखता है, तत्पश्चात् चित्रकार तथा राजकुमार के मध्य उक्त चित्र के गुण व दोषों पर भी विस्तृत चर्चा होती है।

राजघरानों में पटचित्र के प्रति विशिष्ट अभिरुचि की अन्य अनुभूति मध्यकालीन 'कौमुदी महोत्सव' नामक संस्कृत नाटक (अनुमानतः सातवीं शती ई. में रचित) में उल्लिखित एक घटना के माध्यम से होती है। इस नाटक की नायिका कीर्तिमती की देखभाल का कार्यभार योगसिद्धि नामक परिव्रजिका को सौंपा गया था, नायक राजकुमार कल्याण वर्मा की धात्री भी योगसिद्धि ही थी। घटना चक्र कुछ ऐसा चला कि कीर्तिमती तथा कल्याण वर्मा एक दूसरे के प्रति आसक्त हो गये। मेल न होने पर अंत में विरहाकुल कीर्तिमती ने अपना तथा कल्याण वर्मा का एक चित्र वस्त्रपट पर तैयार किया जो अकस्मात् ही योगसिद्धि के हाथ लग गया। इस पटचित्र की सहायता से ही योगसिद्धि ने दोनों का विवाह कराया था। उसके कुछ रूचिकर संदर्भांशं इस प्रकार हैं—

'को नु खल्वेष नभसः श्येनचरण भ्रष्टो निपतिताश्चित्रपटः ?
दृष्ट्रवा नभस्तः शिखिवर्हभार शारोदरं चित्रपटं पतन्तम् ।
अनभ्रसंसर्गमभूत पूर्वमैन्द्रं धनुः खण्डमनुष्मरामि ।।'

अर्थात्, बाज के पंजे से छूटकर गिरा हुआ यह चित्रपट कैसा है? मयूर पुच्छ की भाँति चित्र-विचित्र इस चित्रपट को देखकर मुझे ऐसा लग रहा है मानो यह कोई अर्श्व इंद्रधनुष है जो मेघ के संसर्ग से रहित है।

योगसिद्धि ने ज्यों ही वह चित्रपट उठाया तभी कीर्तिमती की एक चेरी वहाँ आ पहुँची तथा उस चित्रपट को देखकर चकित होकर कह उठी—'अंहो, एसो चितपडो जो एक्कंते पिणसण्णायं बहुएहिं श्रासबिधेहि सहीण अमिस खंडलुब्धेण सेणेण आरंव्वत्तो।' अर्थात् यह तो वही चित्रपट है जिसे, अनेक प्रकार की आशाएँ करती हुई एकांत में बैठी सखियों के बीच से मांस-खंड का लोभी बाज उठा ले गया था। उक्त संदर्भ से विदित होता है कि पटचित्र बहुत महत्वपूर्ण समझे जाते थे तथा इनके निर्माण में उच्च कोटि के चित्रकारों को नियुक्त किया जाता था।

कर्नाटक विश्वविद्यालय (धारवार) के कन्नड़ शोध संस्थान में स्थित संग्रहालय में एक अत्यंत विशिष्ट प्रस्तर-प्रतिमा सुरक्षित है। यह प्रतिमा एक सुंदर युवती को अभिव्यक्त करती है जो अपने हाथ में एक कुंडलित पटचित्र का प्रदर्शन कर रही है, जो थोड़ा ही खुला है तथा शेष कुंडलित है। यह कलाकृति मूलतः बीदर जनपद (आंध्रप्रदेश) में स्थित जलसंगति नामक स्थान पर ११२६ ई. में निर्मित एक मंदिर के ध्वंसावशेष से प्राप्त हुई थी। (इसके फोटो हेतु दृष्टव्य—'संस्कृति'-आदित्यनाथ

झा स्मृति ग्रंथ-भाग-३, प्लेट-पांचवी) कभी-कभी कुंडलित पटचित्र में कई चित्र बनाये जाते थे अतएव इसे भवभूति कृत 'उत्तररामचरित' में 'वीथिका' भी कहा गया है। ११ वीं शती में सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' में पटचित्रों को दीवार पर चिपकाने की प्रथा का संकेत दिया है। इस वाङ्मय में संकलित कथाएँ राजकुमारी रूपलता के प्रति अपना प्रेम अभिव्यक्त करने के उद्देश्य से राजा पृथ्वीराज द्वारा एक चित्रकार कुमारदत्त के हाथों अपना चित्र (पोर्ट्रेट) भेजवाने का उल्लेख आता है जो वस्त्रपट पर बनवाया गया था। उक्त संदर्भों के अतिरिक्त संस्कृत के कई ग्रंथों में प्राचीन भारत में पटचित्रों की विद्यमानता का बोध होता है। अन्य कला सामग्री की अपेक्षा पटचित्र अधिक उपयोगी सिद्ध हुए हैं, क्योंकि इनको लपेटकर सुगमता से इधर-उधर ले जाया जा सकता है। धर्म प्रचार के कार्य में भी यह विद्या अत्यतं उपयोगी सिद्ध हुई थी, अतएव कई बौद्ध धर्म प्रचारक अपने साथ बहुत से पटचित्र भारत से विदेशों में ले गये थे। पहली शती ई. के बाद बौद्ध भिक्षुओं ने धार्मिक भावों के प्रचारार्थ चित्रकला को सबसे अनुकूल माध्यम स्वीकार किया था, वे अपने साथ जो पटचित्र ले गये थे, उनपर भगवान बुद्ध का जीवन, दर्शन तथा उनकी दीक्षाएँ व उपदेश चित्रों व लिपि के रूप में अंकित रहते थे। अनेक पटचित्रों के द्वारा चीन, लंका, जावा, स्याम, कम्बोदिया, ब्रह्मा, नेपाल, खुत्तन, जापान, कोरिया, अफगानिस्तान तथा अन्य देशों में बौद्ध धर्म तथा कला का उद्भव तथा विकास हुआ। इन्हीं के द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रति आकर्षण तथा श्रद्धा इन देशों में हुई थी। पटचित्रों के निर्माण में बौद्ध कला की विशेष ख्याति रही है। मध्य एशिया में स्थित दन्दां उइलीक से सातवीं शती ई. के तथा कूचा क्षेत्र से ९ वीं शती ई. के बहुत से पटचित्र प्राप्त हो चुके हैं जिन पर अजंता चित्रण शैली में चित्र बने हुए हैं। बृहत्तर भारत के क्षेत्र में तिब्बत में पटचित्रण के प्रति सर्वाधिक अभिरूचि विकसित हुई थी, वहां पर विकसित इस शिल्प परंपरा को भारतीय कला का ही अंग मान लेने में कोई मतभेद अथवा अनौचित्य नहीं रहा है। प्रसिद्ध खोजी सर आरेल स्टीन ने तिब्बत में बने सातवीं व आठवीं शती के कई रेशमी पटचित्र प्राप्त किये थे जो संप्रति ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं। तिब्बत के ही बहुत से सूती कपड़े पर बने पटचित्र विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम इंग्लैंड तथा इंस्टीट्यूट डि फ्रांस में सुरक्षित हैं। तिब्बती पटचित्रों की सबसे अधिक संख्या में प्राप्ति थांकका स्थान पर बने मंदिर से हुई थी, जिनको परवर्ती काल में थान्का स्क्रोल कहा जाने लगा, बाद में सभी तिब्बती पटचित्रों को 'थान्का' के नाम से संबोधित किया जाने लगा। इन चित्रों में अंकित यान आकृतियों से तिब्बती कलाकारों की निपुणता का अनुभव होता है। थानका चित्रों पर अजंता चित्र शैली के अतिरिक्त चीनी कला का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। चित्रों के विषय बौद्ध धर्म की महायान शाखा से उद्घृत हैं जिसमें तांत्रिक भावना का सर्वोपरि स्थान है। प्रत्येक चित्र की आधार भूमि मानवीय होते हुए भी अमानवीय (अलौकिक) प्रतीत होती है। तिब्बत से प्राप्त सैकड़ों पटचित्र राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली व मध्य एशियाई संग्रहालय नई दिल्ली; सर आशुतोष म्यूज़ियम ऑफ इंडियन आर्ट, कलकत्ता यूनिवसिटी व बंगीय परिषद संग्रहालय, कलकत्ता; म्यूज़ियम एण्ड पिक्चर गैलरी, बड़ौदा; राज्य संग्रहालय, पटना; एस. पी. एस. म्यूज़ियम-श्रीनगर तथा अन्य विदेशी व व्यक्तिगत संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। स्मरणीय है कि तिब्बत में १८ वीं शताब्दी ई. तक अनेक पटचित्रों का निर्माण निरंतर होता रहा था।

भारतीय चित्रकला के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण एक बहुत लंबा कुंडलित पटचित्र 'वसंत विलास' उल्लेखनीय कलाकृति मानी जाती है जो संप्रति फ्रीयर आर्ट गैलरी-वाशिंगटन में सुरक्षित है, इसपर ७९ चित्र गुजराती चित्रण शैली में अंकित हैं। गुजरात में १५ वीं शती में इसका निर्माण हुआ था। गुजरात स्थित पाटण खंभात के संघवीनापाड़ा ग्रंथ भंडार में १५ वीं शती का ही एक अन्य पटचित्र 'पंचतीर्थ' दर्शनीय है जिसपर अंकित चित्रों का प्रकाशन 'इंडियन आर्ट एण्ड लैटर-१९३२ पृष्ठ, ७१-

७८ में हुआ है। गुजराती (जैन) चित्रण शैली के कई पटचित्र स्वदेश में कई जैन ग्रंथ भंडारों में सुरक्षित हैं किंतु किन्हीं कारणों से इनका उद्‌घाटन नहीं हो सका है। जैन संत जिभद्र सूरि के समय का, जैन शास्त्रों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालने वाला एक बहुमूल्य तथा बड़े आकार का पटचित्र ब्रिटिश म्यूज़ियम-लंदन में सुरक्षित है। जैसलमेर स्थित विख्यात ज्ञान भंडार, बीकानेर के गंगा गोल्डन जुबली म्यूज़ियम, अगरचन्द नाहटा संग्रह तथा मुनि कांति सागर संग्रह के अतिरिक्त अहमदाबाद व पाटण (गुजरात) के ज्ञान भंडारों में बंद अनेक पटचित्र अपने उद्‌घाटन तथा मूल्यांकन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। ये कलाकृतियां धर्म, इतिहास, कला तथा संस्कृति की दृष्टि से बड़े महत्व की हैं। १८ वीं शती तक ऐसे पटचित्रों का निर्माण होता रहा था।

मध्यकाल में पटचित्रों का निर्माण निश्चित विधिवत होता था, विष्णु धर्मोतर पुराण के चित्रसूत्र में इस विधि पर प्रकाश डाला गया है। 'देवो मृत्तिकया लेयः पुस्ते धर्मकृते दृढ़ः । सूत्रेनेन विधानेन चित्रवस्त्र तथा लिखेत् ।।'-(४३/३५ वि. ध. पु., चित्रसूत्र) इस दृष्टिकोण से एक रूचिकर उल्लेख ध्यातव्य है, जो १४ वीं शती में माधवाचार्य (जो विद्यारण्य मुनि के नाम से प्रसिद्ध हुए थे) द्वारा रचित 'पंचदशी' में दर्शनीय है, इस रचना में मुनि जी ने वेदांत-दर्शन के मूढ़ सिद्धांतों को जनसाधारण तक प्रेषित करने के लिए अथवा बोधगम्य बनाने के लिये चित्रकला का आलंबन लिया था। इस ग्रंथ का 'चित्रदीप' नामक प्रकरण प्रतीकात्मक शैली में लिया गया है। अधिष्ठान चेतनरूपी वस्त्र पर जगत रूप चित्र को प्रकाशित करने वाले इस प्रकरण के आरंभिक श्लोक का आशय है कि जिस प्रकार चित्रपट निर्माण की चार अवस्थाएं—(धौत, घट्टित, लांछित और रंजित) निर्धारित की गयी हैं, उसी प्रकार परमात्मा की भी चार अवस्थाएँ—(चित्, अंतर्यामी, सूत्रात्मा और विराट्) ज्ञातव्य हैं। पटचित्र निर्माण की उक्त चार अवस्थाएँ इस प्रकार बताई गई हैं—किसी अन्य द्रव्य के संयोग के बिना ही भली-भाँति धोकर स्वच्छ और सफेद किया हुआ (धौत); चावल के मांड से लिपा हुआ और अच्छी तरह घोटे हुए (घट्टित, मांड से लिपी सतह के सूख जाने पर एक चिकनी सतह वाले गोल पत्थर द्वारा घोटा जाता था) वस्त्र पट पर: स्याही की रेखाओं से देव या मानव की आकृति हो जाने पर (लांछित) और तत्पश्चात् उसमें यथोचित रंगों के प्रयोग हो जाने पर (रंजित) पत्रचित्र पूर्ण हो जाता है। उससे प्रतीत होता है कि पटचित्र-निर्माण का प्रभ्यासात्मक ज्ञान सामान्य रूप से समाज में विद्यमान था।

सोलहवीं शती में जब मुगल सम्राट अकबर ने शासन की बागडोर संभाली थी, तब भी भारत में पटचित्रण की परंपरा विद्यमान थी, स्वयं अकबर भारतीय कला से प्रभावित हो चुका था, उसकी व्यक्तिगत रूचि तथा आदेश के फलस्वरूप ईरानी कथा 'किस्सा अमीर हम्ज़ा' को भारतीय पद्धति पर बने वस्त्रपटों पर अभिव्यक्त किया गया। इन सूती वस्त्रपटों का परिमाप २८.२५ फीट लंबाई और २ फीट चौड़ाई में है। इन पटों पर बने चित्रों की शैली में ईरानी शैली की हिरात उपशैली तथा भारतीय चित्रकला तथा संस्कृति के विवेचन हेतु अत्यतं महत्वपूर्ण सामग्री मानी गयी है। ये सभी पटचित्र कुल बारह आवेश्ठनों (वॉल्यूम्स, जिल्द) में विभाजित थे तथा प्रत्येक आवेश्ठन में सौ चित्र थे, जिनमें से लगभग एक सौ पचास चित्र ही अवशिष्ट हैं तथा इधर-उधर कई स्थानों पर पहुँच चुके हैं, इनमें से वॉल्बरकुन्डि म्यूज़ियम ऑफ फाइन आर्ट्स-वियेना (बर्लिन) में साठ; विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम, लंदन में चौबीस : फ्रीयर गैलरी ऑफ आर्ट-वाशिंगटन में तीन; फॉग आर्ट म्यूज़ियम-बोस्टन में एक; म्यूज़ियम ऑफ फाइन आर्ट्स-बोस्टन में दो; म्यूज़ियम ऑफ चेस्टर संग्रह-बम्बई में दो: भारत प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम-बम्बई में एक; श्री आर्देशिर संग्रह-बम्बई में दो; भारत कला भवन-वाराणसी में एक; राज्य संग्रहालय-हैदराबाद (आंध्र) में एक; म्यूज़ियम एण्ड पिक्चर गैलरी-बड़ौदा में एक तथा सभी शेष पटचित्र विदेशों में अन्य व्यक्तिगत संग्रहों में सुरक्षित हैं।

प्राचीन वाङ्‍मयों के शाब्दिक जाल में उलझे हुए पटचित्रों के उक्त संदर्भ तथा संग्रहालयों में सुरक्षित पटचित्रों से ऐसा प्रतीत होता है कि राजपरिवारों तथा अन्य श्रेष्ठ व अभिजात्य वर्ग के लिए पटचित्रों के निर्माण में शिल्प निपुण तथा सिद्धहस्त कलाकार ही नियुक्त किये जाते थे तथा इनके द्वारा निर्मित पटचित्र मूल्यवान तथा महत्वपूर्ण कृतियों के रूप में सुरक्षित और सम्मानित किये जाते थे। इसके अतिरिक्त पटचित्रण-परंपरा की एक अज्ञात धारा उस लोक-समाज में प्रवाहित होती रही जिसका न तो कोई इतिहास ही लिखा गया और न ही बना कोई संग्रहालय। वस्तुत: लोक-संस्कृति अभिजात्य संस्कृति के साथ निरंतर यात्रा करती है तथा उसका संपर्क पाकर भी अपनी लीक से एकदम नहीं हटती। लोक संस्कृति अपेक्षाकृत अधिक स्थिर, उन्मुक्त तथा सामूहिक होती है। लोक-कला के माध्यम से संस्कृति, परंपरात्मकता तथा युगीन चेतना की सहयात्रा की अनुभूति हो जाती है। पटचित्रण भी एक ऐसी विधा रही है जिसे लोक समाज ने अपनी भावाभिव्यक्ति के लिये व्यापक रूप से अपनाया है। भारत में राजस्थान एक ऐसा प्रदेश है जिसका चप्पा-चप्पा अपनी क्षेत्रीय संस्कृति के रंग में रंगा हुआ है; युग युगों से यहाँ की संस्कृति लोक जीवन का प्राण बनी रही है; यहाँ विविध प्रकार के पटचित्रों का निर्माण हुआ है जिनको पाबूजी की फड़ (पड़), पिछवाइ, सिंहासन, पीठिका तथा सिरिनाथ जी कहा जाता है। यहां एक आंचलिक लोक देवता पाबूजी राठौड़ के वीरतापूर्ण जीवनवृत्त की कथा को छोटे-बड़े चित्रों व आकृतियों द्वारा 'फड़' पर अभिव्यक्त किया जाता है जिसकी एक विशिष्ट चित्रांकन पद्धति है। तथा मोटे सूती कपड़े या कैनवस पर ही यह तैयार की जाती है। फड़ को लिये हुए, पाबूजी की कथा को गीत व संगीत के माध्यम से लोक गायक (स्थानीय भाषा में ओपे) गाँव-गाँव तथा गली-गली में घूमकर गाते हुए अपनी आजीविका चलाते हैं। इनकी टोली के दो आदमी फड़ को खोलकर प्रदर्शित किये रहते हैं, एक आदमी लंबी डंडी द्वारा कथा क्रम के अनुसार चित्रस्थ आकृतियों की ओर संकेत करता रहता है तथा शेष दो-एक आदमी कथा-गान करते रहते हैं। फड़ की लंबाई ३५-४० फीट तथा चौड़ाई ३-४ फीट तक होती है। विदेशों में भारतीय कला-प्रेमियों में फड़ के प्रति गहरी रूचि है। इनके अतिरिक्त पिछवाइ, सिंहासन, सिरिनाथ जी तथा पीठिका पटचित्रों को भी देशी-विदेशी कला-आलोचकों तथा संग्रहकर्ताओं ने बहुत सराहा है। उदयपुर से लगभग ४० कि. मी. दूर नाथद्वारा नगर इन पटचित्रों के निर्माण का केंद्र रहा है। यहां श्रीनाथ जी की उपासना की जाती है जिसका आरंभ १७ वीं शती में हुआ था। श्रीनाथ जी के असंख्य भगतों की धार्मिक आवश्यकता श्रीनाथ जी की आकृति को वस्त्र पट पर चित्रित करने और विक्रय करने की परिपाटी का आरंभ हुआ. इन पटचित्रों को ही 'सिरिनाथजी' कहा जाता है। ये छोटे आकार में बनते हैं तथा घरों में पूजा के निमित्त टाँगे जाते हैं। यहाँ के मंदिरों में श्रीनाथ जी या श्रीकृष्ण की प्रतिमा के पीछे बड़े आकार के पटचित्र लटकाये जाते हैं जिसको 'पिछवाई' कहा जाता है। कई बड़े मंदिरों में पूरे दिन में तीन बार तथा अन्य विशिष्ट अवसरों पर पृथक-पृथक विषय वाले चित्रों से अलंकृत पिछवाइयां अदली बदली जाती हैं। इन पर प्राय: राधा-कृष्ण की जुगल जोड़ी, रासलीला, दान लीला, श्रीकृष्ण संबंधी अन्य विषय तथा राग-रागिनियों को चित्रित किया जाता हैं। १८ वीं तथा उन्नीसवीं शती में पिछवाइयों की माँग तथा निर्माण सबसे अधिक थे जिसके फलस्वरूप राजस्थान के अन्य क्षेत्रों से अनेक चित्रकार यहाँ आकर बस गये थे, अतएव कई शैलियों के समावेश से इनके चित्रण की शैली विकसित हुई, फिर भी किशनगढ़ शैली की छाप इनपर सबसे अधिक हैं। किशनगढ़ दरबार के संग्रह के कपड़ भंडार में कई पिछवाइयाँ २० फीट लंबी व १५ फीट चौड़ी हैं। इनके अतिरिक्त विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम-लंदन; राष्ट्रीय संग्रहालय-नयी दिल्ली; राज्य संग्रहालय-चण्डीगढ़; म्यूज़ियम एण्ड पिक्चर गैलरी-बड़ौदा तथा राजस्थान के कुछ राजघरानों व अन्य व्यक्तिगत संग्रहों में पिछवाइयों के दुर्लभ उदाहरण सुरक्षित हैं। इसी परंपरा का अन्य पटचित्र है

'सिंहासन'; इसमें वस्त्रपट की दोनों सतहों पर पिछवाइयों की शैली में ही चित्रण किया जाता है तथा विषय भी वही होते हैं। यह पटचित्र श्रीनाथजी के शयन काल में उनके सिंहासन को ढकने के प्रयोग में लाया जाता है। इनका भी आकार बड़ा ही होता है। पिछवाइयों का ही छोटा रूप 'पीठिका' कहलाता है तथा घरेलू पूजा गृह के शोभन अथवा पूजन कार्य में इसका उपयोग होता है आज भी नाथद्वारा नगर में लगभग चार सौ व्यक्ति इन पटचित्रों का निर्माण करके अपना गुजारा करते हैं।

राजस्थान के समीपस्थ गुजरात का क्षेत्र भी पटचित्रण की परंपरा को दीर्घ काल से निभाता रहा है: यहाँ के समृद्ध जैन समाज ने कलाओं की उन्नति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इनके द्वारा स्थापित अनेक ज्ञान भंडारों में अथाह कला-सामग्री सुरक्षित है जिनमें अनेक महत्वपूर्ण पटचित्र हैं जिनका निर्माण अच्छे स्तर के अभिजात्य वर्ग के कलाकारों द्वारा हुआ था। इनके अतिरिक्त मध्यमवर्ग तथा साधारण लोक-समाज में भी इस कला के प्रति गहरी अभिरूचि रही है जो यहाँ के १९ वीं शती में लोक शैली में बने पटचित्रों से प्रकट होती है। ये पटचित्र तत्कालीन सांस्कृतिक तथा सामाजिक छवि को अभिव्यक्त करते हैं। ऐसे कई पटचित्र राष्ट्रीय संग्रहालय-नयी दिल्ली में सुरक्षित हैं। उदाहरणार्थ दृष्टव्य रंगीन चित्र—'फॉक पेंटिंग्स ऑफ इंडिया', वी. एल्विन-पृ. ३८ व ३९।

पटचित्रण की लोक परंपरा की एक लहर उत्तरी भारत में हिमाचल प्रदेश की भूतपूर्व पहाड़ी रियासतों के क्षेत्र में विद्यमान थी। स्मरणीय है कि इस क्षेत्र में चित्रण की प्रवृत्ति का विकास निकटस्थ कश्मीर में प्रचलित चित्रण परंपरा तथा स्थानीय लोक कला तत्वों के सहयोग से हुआ था। प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथ के अनुसार कश्मीर में उक्त शैली अजंता परंपरा वाली भित्ति चित्रण तथा ठेठ भारतीय पटचित्रण की शैलीगत परंपराओं से १६ वीं शती में उद्‌भूत हुई थी। यहाँ की कुल्लू तथा मंडी रियासतों में यद्यपि शिष्ठ शैली में लघु चित्रों तथा भित्तिचित्रों का निर्माण होता था किंतु साथ-साथ लोक शैली से पटचित्रण भी होता रहा जिनमें तिब्बती कला का भी अंश पाया जाता था। कुल्लू में निर्मित १९ वीं शती का एक स्क्रौल भारत कला भवन-वाराणसी में संग्रहीत है। यहाँ के पटचित्रों में प्राय: लोक कथाओं तथा हिंदू धार्मिक कथाओं से प्रेरित विषयों की अभिव्यक्ति की जाती थी। अब यह परंपरा लुप्त प्राय: हो चुकी है। इस परंपरा के कुछ पटचित्रों का संग्रह राजा भूरी सिंह संग्रहालय-चंबा (हि.प्र.) में दृष्टव्य हैं।

भारत का पूर्वी क्षेत्र भी अभिव्यक्ति की इस परंपरा में पीछे नहीं रहा। यह परंपरा १८ वीं शती से ही पश्चिमी बंगाल में बहुत फलती फूलती रही। यहाँ के बीरभूम, बंकुरा हुगली, मिदनापुर, बर्दवान, मुर्शिदाबाद तथा चौबीस परगना के क्षेत्र में सहस्त्रों ग्रामीण चित्रकार पटचित्रण का कार्य करते थे। इन दोनों को पटुआ कहा जाता था। अब यह कला विलुप्त प्राय: हो गयी है। १८ वीं शती में बंगाल प्रांत में देवी काली की उपासना अत्यधिक बलवती हो गयी थी। प्रसिद्ध कालीघाट पर स्थित काली-मंदिर में लाखों भक्तों का आगमन होता था, उनकी बलवती श्रद्धावश ही काली माँ की रेखांकित आकृति को वस्त्रपटों पर अंकित कर बेचा जाता था, बाद में इन पटों की माँग बहुत बढ़ चली तथा इनमें रंगों का भी प्रयोग होने लगा। इन चित्रों में रेखायें लयपूर्ण, स्पष्ट, सशक्त तथा सपाटेदार होती हैं, अतएव ये आकृतियाँ अपने आप एक दृष्टि में ही पहिचानी जा सकती हैं। पटचित्रण की यह कला किसी भी स्थानीय राजदरबार अथवा किसी अभिजात्य वर्ग के आश्रित नहीं थी और न ही किसी शिष्ठ (क्लासिक) शैली से ही संबंधित थीं वरन् एकदम शुद्ध लोक परंपराओं से ओतप्रोत थीं। आरंभ में ये पट छोटे आकार में बनते थे किंतु बाद में बड़े आकार के लिपटवां (स्क्रौल) बनने लगे जिनको 'जड़नो पट' कहा जाता था तथा इनकी लंबाई प्राय: १२ से १५ फीट व चौड़ाई एक से दो फीट तक होने लगी थी। इन पर लंबाई के बल चित्र-श्रृंखला बनायी जाती थी जिसमें हिंदू धार्मिक विषय, देवी-देवता, पशु-

पक्षी तथा अन्य सामाजिक भावनाओं पर आधारित चित्रों का समायोजन होता था। राजस्थानी 'भोपा' कलाकारों द्वारा 'फड़ों' के माध्यम से आजीविका कमाने की भाँति ही इन जड़नोपटों का भी प्रयोग किया जाता था। १९ वीं शती में सस्ते यूरोपियन प्रिंट्स का आयात होने के कारण पटचित्रण की यह परिपाटी छिन्न हो गयी; कुछ चुने हुए पटचित्रों का संग्रह इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी-लंदन, इंडियन म्यूज़ियम-कलकत्ता तथा आशुतोष म्यूज़ियम ऑफ इंडियन आर्ट-कलकत्ता में सुरक्षित है। स्मरणीय है कि आधुनिक भारतीय कला के ख्याति प्राप्त चित्रकार स्व. श्री जामिनी राय की चित्रण शैली इन्हीं कालीघाट के पटचित्रों से उद्घृत हुई थी।

पूर्वी भारत में बंगाल के अतिरिक्त बिहार प्रदेश में सिंहभूम व संथाल परगना के क्षेत्र में भी वस्त्र पट पर चित्रण करने की परंपरा लोक समाज में व्यापक रूप से प्रचलित रही है। यहाँ के पटचितेरों को 'दुआरि' (जो द्वार पर प्रतीक्षा करते हैं) कहा जाता है। जो उनकी व्यवसायिक समूह-जाति को भी संबोधित करता है। ये दुआरि लोग संथालों के गाँवों में घर-घर लिपटवां पटचित्रों को लेकर घूमा करते हैं; इन पटों को 'जादू पटुआ' कहा जाता है जिन पर अंकित चित्रों व आकृतियों में मृत्युपरांत व्यक्ति को परलोक में भी लौकिक सुख भोग करते हुए; संथालों के ग्राम्य जनजीवन तथा संस्कृति के अतिरिक्त पशु-पक्षियों को अभिव्यक्त किया जाता है। इन चित्रों का निर्माण विशुद्ध लोक व सरल शैली में किया जाता है। यहाँ के कुछ चुने हुए पटचित्रों को जोगेशचंद्र म्यूजियम-बंगीय साहित्य परिषद्-विष्णुपुर में संग्रहीत किया गया है। डा. वी. एल्विन, जनजातीय विभाग के सलाहकार (भारत सरकार) नेफा शिलांग, ने भी इनका अच्छा संग्रह तैयार किया है तथा इनके द्वारा ही लिखी 'फॉक पेंटिंग्स ऑफ इंडिया' में दो चित्र 'बघुत बोन्म' तथा 'डोंगे' पृष्ठ २४-२५ पर प्रकाशित हुए हैं। संप्रति शती में यह प्रथा अत्यंत क्षीण हो चली है, फिर भी आंचलिक मेलों तथा अन्य अवसरों पर ये कलाकृतियाँ देखने में आती हैं।

भारत की कला तथा संस्कृति को उड़ीसा प्रदेश का योगदान प्राचीन काल से मिलता रहा है। यहाँ के आंचलिक लोकजीवन ने पटचित्रण की परंपरा को भी बहुत निभाया तथा जीवित रखा है। इस प्रदेश के चोपमल, बोलनगीर, सोनपुर बिंका, पुरी, गंजम तथा अन्य ग्रामीण व आंचलिक क्षेत्रों में सदियों से यह कला प्रचलित रही है। १३ वीं शती में गंग वंशीय शासकों के आश्रय तथा प्रोत्साहन पाकर यह कला-परंपरा बहुत पनपी। पुरी के मंदिरों में पटचित्रों का उपयोग तभी से भगवान जगन्नाथ जी की उपासना हेतु होता था; वस्त्रपटों पर भगवान जगन्नाथ, देवी सुभद्रा तथा बलराम जी की लक्षणिक आकृतियाँ चित्रित की जाती थीं। इन चित्रों की शैली सारे भारत में अपनी अलग ही पहचान रखती हैं तथा इनको 'जगन्नाथ पट' कहा जाता है। यह परंपरा आज भी वहाँ है, जगन्नाथ पुरी में आने वाले सहस्रों तीर्थयात्री इनको खरीद-खरीद कर दूर-दूर अपने घर श्रद्धा से ले जाते हैं। इनके अतिरिक्त विविध आकार के वस्त्रपटों पर पौराणिक कथाओं, विष्णु पुराण, देवी पुराण, राधा कृष्ण, शिव-पार्वती तथा अन्य आध्यात्मिक विषयों से संबंधित भावाभिव्यक्ति सरल व स्थानीय लोक शैली में की जाती है जिनमें सशक्त वह सपाटेदार रेखाओं तथा चटकीले सपाट रंगों द्वारा आकर्षक संयोजन बन पड़ता है। उड़ीसा के इन पटचित्रों का अच्छा संग्रह 'आशुतोष म्यूज़ियम ऑफ इंडियन आर्ट-कलकत्ता यूनिवर्सिटी-कलकत्ता' में दर्शनीय है। इस प्रदेश में आज भी यह विद्या विद्यमान है किंतु दिन पर दिन इसकी परंपरा क्षीण होती जा रही है।

उधर हमारे देश के ठेठ दक्षिणी भाग में भी यह परंपरा १८ वीं शती से विकसित हुई थी। हुआ यह कि १८ वीं शती के मध्य तक सम्पूर्ण पश्चिमोत्तरी क्षेत्र तथा दक्षिण मराठा शासकों के अधिपत्य में आ चुका था तथा यह कालांश मराठों के चरमोत्कर्ष का युग था। इन योद्धाओं में निजी-जाति या वंशगत

संस्कृति में कलात्मक परंपराओं का अभाव था; संभवत: निरंतर लंबे समय तक युद्ध तथा अशांत व अस्थिर वातावरण में रहने के कारण ही ऐसा हुआ हो। शासन में स्थायित्व तथा शांति आने पर, शासकों की इच्छा व आवश्यकता से वशीभूत होकर राजस्थान से बहुत से चित्रकार इन्दौर, ग्वालियर, बड़ौदा तथा पूना में आयातित हुए थे जिनके सहयोग से वहाँ एक ऐसी शैली का उद्भव हुआ जिसे (मराठा कलम) शैली कहा गया। इसी शैली को ही स्थानीय लोक कलाकारों ने शीघ्रता से अपना लिया तथा अन्य विधाओं के अतिरिक्त वस्त्रपट पर भी चित्रण कार्य किया। तंजौर तथा करबूल में यह कार्य बहुत ज़ोरों पर हुआ था। मराठा संस्कृति की अभिव्यक्ति, सरलता तथा वर्णनात्मकता इन कलाकृतियों की अपनी अन्यतम विशेषता रही है इस परंपरा के कई स्क्रौल राष्ट्रीय संग्रहालय-नयी दिल्ली में संग्रहीत हैं। दक्षिणी भारत में यह परंपरा लुप्त हो चुकी है। (चित्रों के फोटो हेतु दृष्टव्य 'फॉक आर्ट ऑफ इंडिया' पृष्ठ ४७-४८)

भारतीय चित्रकारों की यह विधा सदियों से ही समूचे भारत में व्यापक रूप से विद्यमान रही है, समाज के सभी वर्गों, शिष्ट या लोक, नागरिक या ग्रामीण, धनवान या निर्धन व्यक्तियों ने इसकी उपयोगिता तथा कलात्मकता को जाना है। इन पटचित्रों ने समाज व युग की संस्कृति तथा भावनाओं को अपने साथ लपेट कर संजोकर रखा है तथा भारतीय कला के इतिहास में विशिष्ट योगदान कर उसके कलेवर को अभिवृद्ध किया है। आज आधुनिकीकरण की आँधी ने समाज के प्रत्येक अंग को झकझोर दिया है, लोक संस्कृति के बाह्य व आंतरिक पक्ष तथा जीवन की सभी परंपराएं टूट फूट कर बिखरने लगी हैं। कागज का प्रचुर उत्पादन तथा चित्रण में उसका बहुल उपयोग, छापेखानों द्वारा अल्पमूल्य वाले चित्रों का बहुसंख्या में निकास तथा जीवन की व्यस्तता के कारण पटचित्रण लुप्त प्राय: हो चला है। इतना सब कुछ होने के साथ, भारतीय संस्कृति आज भी जीवित है बिखरी हुई परंपराओं को अपने अंक में समेटे हुए तथा गर्व से सिर ऊँचा किये हुए विश्व के सभी राष्ट्रों को अपनी-अपनी संस्कृति को सम्मानित करने की प्रेरणा प्रदान कर रही है। □

लंबी कविता

तीन नदियों वाली मछुआरिनें

रमेश कुंतल मेघ

कैसी मछुआरिनें

खे-कर ले आईं धनवाले गणराज्यों में
कीचड़ में मल में
मैले में ज़हरीले दलदल में
लंबी दुबली पतली
सफेद फुलबहरी-चकत्तों भरी
गँदली साँवली
अपनी देह धाराएँ

जालों में कमल नहीं
सिंघाड़े मुर्गाबी तीतर
केंकड़े और शंख नहीं

दूर तलक टिटिहरी की ललकार की टंकार नहीं
बनपाखियों के कोमल गांधार की झंकार नहीं

तीनों के कंधों पर लटके
बीमार मत्स्य
बेहोश मगर
विषाक्त महाकच्छप

कैसी मछुआरिनें

गंगा-यमुना-कावेरी
नामांकन कर
वाहनों समेत
इनको पुकारें

कैसी मछुआरिनें
ये देवसरिताएँ

शत सहस्त्र वर्षों पहले
इन्हें मैंने
वहाँ-तब-वैसे
निर्वसना देखा था

शेषनाग के फणों से जूड़े सजाए
सूर्य औ चंद्र औ सोम के सौदामिनी-कसे
पूर्णकुंभ गोदी में धरे

श्रीमंत समुद्रगुप्त सम्राट की उन दिग्विजयी यात्राओं में
सबसे आगे
पुराण शंखों को गुँजाती
त्रैलोक्य गोपुरों में
प्रतिमाएँ बनीं
अनादि से अनंत तक बहातीं
ऋतुपालों वाले
बजरों बेड़ों को

कैसी मछुआरिनें

ये तीनों प्रतिमाएँ बनींठनीं
तब यह गंगा थी
यह यमुना थी
यह कावेरी या गोमती थी
ये तीनों मछुआरिनें
वैसी ये लोककन्याएँ
प्रथम सृष्टि की देवबालाएँ

कैसी मछुआरिनें
ये देवसरितायें
दुष्टसंहारिणी, पतितपावनी, जीवनदायिनी
पीयूष धाराएँ
आज स्वयं दूषिता अपवित्राएँ
आ पहुँची पुनश्च
हट्टकट्ट शाल जंगलों
देवदारु के सघन कान्तारों
काले हाथियों के चट्टानी पठारों
नमक के प्यासे किनारों में

अर्थात् अपने अंगरक्षकों के डेरों में

ज़बर्दस्त हमला है
धनवाले कुबेरों का
हजारों कुल्हाड़ियों प्रदूषण भरी नालियों
विषबुझी हवाओं खदानों की डीजल कुदालों की
सभ्यता का सृष्टि-संहार है
मरण की चारों ओर
ललकार है

शाल बनों ने नदियों से कहा :—

"ओ री त्रिपुरसुंदरी बहिनाओं !
जल्दी ही हमारी ही बाहों से बनी कुल्हाड़ियाँ
हमें ही खंड-खंड कर देंगी

जबर्दस्त हमला है

हमारी जड़ों में दबी धातुएँ
हरियाले टीलों को डोलोमाइट खदानों की ढेरी कर देंगीं
तुम्हारे सजल अंगों की तुम्हारी पवित्रता की
तुम्हारी अमरता की रक्षा हम कर नहीं पाएँगे
ज़बर्दस्त हमला है।"

सुभाषिनी नदियों ने पूछा :—

'ओ हज़ारों लाखों बीरन !

— तो ताजमहल गंधक की पपड़ियों-सा
चटक-चटक झरेगा ?

— ऋृषिकेश जैसा कालिदास का हिमालय
क्या बारूदी ज्वालामुखी से फुँकेगा?

— सप्तर्षियों वाला अनादि आकाशदीप
हमारे पिता के मँड़वे में आणविक मेघ
बरसाकर फदकेगा?

— अपने सातों धूमकेतु-पुत्रों सहित ब्रहस्पति
आकाशगंगा को नोंचकर गिरेगा ?

— शहर के मशीनी दैत्यों का दिवोरात्र मलत्याग
कोढ़ से लकवे से गलाता पिघलेगा ?

— भरतपुत्रों का यह राष्ट्र
सरस्वती के अधजले मांस से गंधाएगा?

— भला, कौन सा पाप हमें लगेगा

— हमसे नहाती नवेली सुहागिन वधुओं के दलितचीतों
श्रमिक जनों के दहन का
कैसा अभिषाप यूँ धधकेगा ?

कोई भी उत्तर नहीं
चतुर्दिक महाशून्य
आसन्न महाप्रलय का अँधेरा!

कटे हुए शाल वन
देवदारू कुँज सघन
चुप हैं
कई सभ्यताएँ दफ़न हैं

प्यास में चीखते हंसों के झुंड काले ख़ून के तालाबों
पर मँडरा रहे हैं
रासायनिक फस्लों को काटते हुए ज़मींदार
तहों बच्चों की अर्थियाँ लगा रहे हैं

मछुआरिनों की नावों में —

गुप्तयुगों के खंडित देवताओं के पाषाण अंग आयुध हैं
जालों में—सड़ी गली मछलियाँ बदबू मारती
मोतियोंवाली सीपियाँ घड़ियालों की खालों की
गठरियां तस्करी मालों की टोकरियाँ
बंसी में —फँसे हुए मरते-घुटते शहर हैं
कूलों में—पसलियों में रोग-सने खंजर हैं

बचाएगा कौन इन हृदयरोगी नदियों को ?
जिलाएँगे कैसे हम उंचासों मरुतों को पृथ्वीपुत्रों को ?

यह तो साक्षात्
प्रकृति पर हमला है

पुरुष महज़
अंधा औ लूला है ।।

□

लंबी कविता

मालवे का संगीत

जगदीश चतुर्वेदी

अभी भी अतीत का सम्मोहन कम नहीं हुआ
वे धूल भरे काले पहाड़ और तोतों भरे जंगल
अभी भी उसकी आँखों में वैसे ही जवान है
जैसे तब थे।

अभी भी वह प्रकृति के उस सब्जबाग में कैद है
जो उसकी मासूम बालपन की मुट्ठियों का खजाना था
मौलसिरी के दरख्त,
बरगद के बूढ़े पेड़ और बबूल की ठंडी हवा
अभी भी उसके कपोलों पर अपनी आभा बिखेरती है।

उसका मन वैराग्य की चादर में कैद हो जाता है
वह भगवा वस्त्र पहन कर जंगलों में निकल जाना चाहता है
जहाँ भागमभाग न हो, काला कसैला दम घोंटू धुआं न हो
सीमेण्ट के जंगल न हों
पत्थरों से मनुष्य न हों
और पाखण्डी आवाजें न हों।

वह हो और काले हिरण हों
कमल खिले सरोवर हों
साथ हो आकर्षण का एक बड़ा केतकी फूल
उसकी बालसुलभ आत्मीयता में
अपनी शुभ्र और वासंती चमक लिए
आँखों में सूर्यास्त समेटे
उसकी बाँहों में खिला।

यह प्रेम और यह आकर्षण
मालवे की मिट्टी की धरोहर है

और कितने ताजा फूल अभी भी उसके अंदर कैद हैं
यह समझना खुद को समझना है
यह तमाम छुद्रताओं के बीच
आत्म साक्षात्कार की पहली पहचान है।
यह सच है
उन काली पहाड़ियों पर बादल नहीं विचरते
एक यक्ष तैरता रहता है।

एक उदास बालक निहारता है उस प्रतिबिंब को
और कसैले स्वाद से भरी
क्षिप्रा नदी में तैर जाता है।

एक तितली का पंख उसका पीछा करता है
एक सूना आकाश उसकी बरौनियों में सिमट आता है
उसकी आँखों में उभरते हैं मालवे के हरे मैदान
रंग बिरंगी चूनरी ओढ़े पानी भरती पनिहारिनें
और कालिदास की पूजा का एक कमल उसकी शिराओं में
अपनी पूरी अस्मिता उड़ेल देता है।
काली मिट्टी में उजले धान के खेत
आकाश में चाँद के प्रतिबिंब
रात का विराट् सम्मोहन
और उस वटवृक्ष के नीचे रेतीले घरौदें के पास
एक सस्मित आकृति

कुछ नक्षत्र हिलते हैं
उसकी आँखों की कोंपलों में
और शिव की आकृति
महाकालेश्वर की विराट् मुद्रा में
नंदी के आगमन की सूचना देती
उसके सामने जड़ हो जाती है।

एक विराट दानव उसके समक्ष अपनी जिह्वा हिलाता है
उसे लगता है कि साक्षात् कालभैरव उसके पास खड़े हों
उस तांत्रिक स्थल पर
घूमते श्वानों की लाल लाल आँखें उसे नींद में चौंका देती हैं।

उसे प्यारा लगता है उज्जैन का वह अक्षय वट
मंगल-ग्रह की प्रदक्षिणा करती क्षिप्रा की तरंगे
एक बांसुरी की आवाज वह अपने पास के कुँज में सुनता है
वह कृष्ण के सामीप्य में एक ऊर्ध्व चेतना से भर जाता है
आज भी उतना ही हरा भरा है यह सांदीपन आश्रम

आज भी दूर दूर तक है उतनी ही शांति
पर कहाँ हैं कृष्ण?

कहाँ है वह मैत्री
जो सुदामा के दारिद्रय को मिटाने
स्वयं के वैभव का उत्सर्ग कर दे।
इतिहास साक्षी है यहाँ के सरोवरों में कमल खिलते हैं
और भूख से कोई भी यहाँ नहीं मरता
यहाँ की मिट्टी सोना बिखेरती है
और यहाँ की धरती किन्नरियों और अप्सराओं की
खिलखिलाहटों से गूँजती है।

क्षिप्रा की याद आते ही उसे उन्माद-सा छा जाता है
गर्मियों में उन घाटों पर
बड़े बड़े वटवृक्षों के नीचे उसने कितने वायदे किये थे
कितनी बार नाम लिखे थे दो हथेलियों के साथ-साथ
उन बूढ़े पेड़ों के चौड़े सपाट तनों पर अपने नाखूनों से।

कितनी बार अक्षयवट की परिक्रमा की थी
भुतहे जंगलों में
सुनसान गुफाओं के ठंडे एकांत की कितनी स्मृतियाँ हैं,
जो जुगनुओं-सी जगर मगर
करती कभी नहीं मिट पातीं।

आकर्षण का एक छोटा-सा पौधा
जो उसने रोपा था इस काली मिट्टी में
यहाँ की उर्वर तलहटी को फोड़
वह चट्टानी झरना जैसा रिसता है।
उसको कभी कभी लगता है
कि शांति का साक्षात्कार तभी हो सकता है
जब अनंत कोलाहल के बीच भी
कुछ स्मृति गंध हों, जो एक ऐसी समाधि में ले जाये

जो योगियों को भी शायद नसीब हो
तब यात्राओं की कल्पना उसे रहस्यलोक में ले जाती थी
वे रेलगाड़ियों नहीं, ऊबड़खाबड़ रास्तों पर चलती
बैलगाड़ियों के दिन थे

आजादी के पहले की अंधेरी जिंदगी
रजवाड़े की हुकूमत के दिन
तब कस्बों में लालटेनें जलती थीं
और ऊंचे खंभों पर मदारी की तरह चढ़कर
एक आदमी कैरोसीन का लैंप जलाता था।

उसकी जिंदगी की
वह पहली यात्रा कितनी अद्‌भुत थी
नीले रंग की एक बस में
मालवे की हरी भरी धरती से गुजरते
साफें बांधे मर्दों तथा गिलट के गहने पहने
ग्रामीण युवतियों को खेतों में जाते देखना।
चारों ओर फैले जंगल हरे थे
उनमें काले हिरन थे, पहाड़ी तोतों के झुण्ड थे
नील गायें थीं जिनके चेहरों पर
मासूम युवती सी नशीली आँखें थीं।
उसकी आँखों में एक अजीब सी बैचेनी
दहशत बन जाती थी
जब रात को एक बूढ़ा उल्लू पास के भुतहे बरगद पर
बैठकर बच्चों की आवाज में रोता था।

उसको रंगों और शरीरों की पहचान होने लगी थी
वह आँखों की चपलता और बरौनियों की सिकुड़न को
पहचानने लगा था

यह उसकी किशोरावस्था के ढलते दिन थे
एक मोहक तंद्रा उसकी धमनियों में अमरबेल सी पसर गई थी
उसे रातों में पलकों के साये में
किसी मनमोहक नृत्य के घुंघरू सुनाई देते थे

वह कितनी हसीन शाम थी जब गहरे सुरमई आसमान के नीचे
घने बरगद के साये में
उसने किसी आत्मीय संबोधन पर
घने काले बालों में अपने रक्तिम अधर छुवा दिये थे

तब उसे लगा था कि प्रेम कितना मादक होता है
कितनी संजीवनी शक्ति होती है
बड़ी बड़ी आँखों की तैरते बादलों सी पुतलियों में
सुबह उसे इंद्रधनुषी रंगों में विभोर लगी थी
एक कपास के फूल का अनछुआ उन्माद
उसकी रग रग में रोशनी उड़ेल गया था
पश्चिम की ओर भूरे पहाड़ों पर
डूबते सूरज को देखते देखते
गोरे जिस्म और घने काले केशों के समुंदर में डूबना
एक मायावी किंतु जीवंत अनुभव उसने पाया था।

वह फिर फिर कर लौट आता था उसी

लाल बजरी की सड़क के अंतिम छोर पर बने
एक सुनसान बंगले में
जिसमें रात को किलकारियाँ उभरती थीं
और सुबह होते ही प्रतीक्षा में
उसकी देह काँपने लगती थी।

वह तिकोना सा त्रिशूल की आकार का मकान
उसको आकर्षित करता था उसमें दो आँखें थी
जो मादा हिरनी की तरह प्यासी और उत्तेजक थीं।

उसका किशोर मन कब युवा बन गया उसे नहीं पता
उसे पता है कि उसने शाही मस्जिद की
गुंबदों की छाया के पास
मखमली दूब के कालीन पर
एक मादक करवट ली थी जो उसकी नसों में
आग बन कर पसर गई थी।
उसे मालूम था, मालवे के वनों में शीतलता है
शिवपुरी की पहाड़ियों में हवा गीत गाती है
पर वह अपने अकेलेपन से लड़ता हुआ
उन लाल बजरी की सड़कों पर घूमता रहता है।

यात्रायें कभी तो बहुत सुखद होती है, कभी त्रासदायी।
वह वय:संधि की उसकी यात्रा कम त्रासदायी नहीं थी
उसने जाना था कि प्रतीक्षा करना कितना कष्ट साध्य है
समय को मुट्ठियों में नहीं बाँधा जा सकता
लाल बजरी के कण सड़कों से उठकर आँखों में किरकिरी बन जाते हैं
और उसकी
उंगलियों में रखा कमल, सुबह होते ही मुर्झा जाता है।

यह मालवे के प्यार
और वहाँ के जंगलों की हवा सी भागती युवतियों के
आदिम नृत्यों की कहानी है
इस कहानी में वह एक बनजारे प्रेमी की भूमिका निभाता है
मिट्टी की गंध में विभोर
एक आदिम गंध में खो जाता है।
उसे लगता है
जहाँ दो गंध मिलती हैं एक तीक्ष्ण आवेग धरती पर चक्रवात-सा घूमता है
जहाँ दो धारायें फूटकर एक ही स्थान पर गिरती हैं
वह स्थान देवालय बन जाता है

वह अर्चना के उस प्रस्तर खंड को
आज भी अपनी धमनियों में जीवंत पाता है। □

पर्दा

योगेंद्रदत्त शर्मा

नांदी

पर्दा गिरा। पर्दा उठा। पर्दा सिर्फ पड़ा रहा।

पर्दे ने क्या-क्या नहीं किया। असलियत को छिपाए रहा। दो पक्षों के बीच दीवार बना रहा।

पर्दा प्रतीक बना रहा—गुलामी और एकाधिकार का।

पर, पर्दा जरूरी है नाटक के लिए। जब तक नाटक चलेगा, पर्दा उठा रहेगा।—किसी ने फतवा दिया।

पर्दा गिर कर रहेगा। हम यह नाटक ही नहीं चलने देंगे।—कोई भड़का।

लेकिन पर्दा कायम रहा। क्योंकि नाटक जारी रहा। पर...

यह नाटक था, या नाटक के भीतर से उपजा नाटक, या नाटक की परिणति का नाटक।... ये दीगर सवाल है।... पर यह भी एक नाटक था—इसमें शक की कोई गुंजाइश नहीं है।

लंबे अर्से से इस नाटक की भूमिका बन रही थी और मैं यह या ऐसा ही एक नाटक लिखना चाहता था। पर कभी-कभी ऐसे नाटक भी हो जाते हैं जिंदगी में, जो पहले से लिखे नहीं जाते और अप्रत्याशित ढंग से मंचित हो जाते हैं।

ठीक याद नहीं, पर शायद अरस्तू ने कहा था कि नाटक कुछ भी नहीं, बस अविश्वसनीय घटनाओं का विश्वसनीय आभास है। कुछ इतने ही अविश्वसनीय ढंग से यह अविश्वसनीय नाटक मंचित हो गया।...

गोकि अपने आपको नाटककार कहने में मुझे संकोच होता है, क्योंकि यह शब्द अब ड्रामेबाज यानी पाखंडी के तौर पर भी इस्तेमाल होने लगा है, पर 'नरो वा कुंजरो वा' के अर्द्ध सत्य की तर्ज पर मैं आंशिक रूप से स्वीकार किए लेता हूँ कि नाटककार हूँ।

नाटककार होने के नाते ही सूत्रधार से मेरा संबंध रहा। काफी अर्से तक मैं उसके लिए नाटक लिखता रहा और वह मेरे नाटकों का मंचन करता रहा।

सूत्रधार

अजीब फितना किस्म का आदमी था वह। कई किस्म की कुंठाओं, मनोग्रंथियों और हीन-भावनाओं का शिकार। उसकी कुंठाओं की एक और सिर्फ एक वजह शायद यही थी कि समाज में जो स्थान उसका बन गया था, वह उस के योग्य नहीं था। जैसे कि वह गाँव-कस्बे की सांग-नौटंकियों की मामूली-सी नाटक कंपनियों से भी निकाला गया एक असफल अभिनेता था, लेकिन भाग्य ने उसे राजधानी की बहुत बड़ी नाटक कंपनी का निर्देशक बना दिया था और अपने हथकंडों के बल पर वह नाटक-कंपनी का सर्वेसर्वा बन गया था।

मैं उसे तब से जानता हूँ, जब वह नौटंकियों में छोटी-छोटी भूमिकाएँ किया करता था। उसकी प्रतिभा को देखते हुए उसे ऐसे ही छोटे-मोटे काम दिए जाते थे और उनमें भी वह प्रायः असफल ही पाया जाता था।

असफल होने पर जितना ही उसे दुत्कारा जाता, वह भीतर ही भीतर उतना ही उग्र और हिंसक हो उठता। ऐसे मौकों पर वह कहा करता—'ये बेवकूफ मेरी प्रतिभा को नहीं पहचानते। देखना, एक दिन मैं इन्हें धूल चटा कर मानूँगा। मैं इन नौटंकियों के लिए नहीं, बल्कि बड़ी नाटक-कंपनियों के लिए बना हूँ। एक दिन ये लोग मेरे तलुए चाटेंगे और मैं इन्हें जूते लगाऊंगा। अभी जरा वक्त साथ नहीं दे रहा है।'

वक्त वाकई उसका साथ नहीं दे रहा था। वह छोटी-मोटी भूमिकाओं में भी असफल रह रहा था। उसके काम और उसकी बदतमीजियों से नौटंकी वाले भी परेशान आ गए थे। और एक दिन उसे निकाल दिया गया था।...

वह भटकता हुआ राजधानी पहुँच गया था और एक बड़ी नाटक कंपनी ने, उसके अनुसार, उसकी प्रतिभा को पहचान लिया गया था।

...लेकिन उसकी प्रतिभा की सही पहचान बहुत बाद में जा कर हुई लोगों को, जब वह अभिनेता से ऊपर उठ कर सूत्रधार बन गया।

विदूषक

'कविवर, एक गुत्थी तो सुलझाओ।' वह अजीब-सी हास्यास्पद पीड़ा वाली मुद्रा में प्रकट हुआ। वह मुझे कविवर कहता था।

'कहो,' मैंने कहा—'कोई आध्यात्मिक गुत्थी है क्या?'

'कुछ-कुछ आध्यात्मिक और कुछ-कुछ ऐतिहासिक।' वह हँसा रहस्यमय ढंग से—फिसफिसाती हँसी।

'अच्छा, बताओ क्या बात है?' मैंने पूछा।

'वही कि पर्दानशीं का राज क्या है?' उसने दार्शनिक मुद्रा बनाई।

'तुम सूत्रधार से इतने परेशान क्यों हो जाते हो?' मैंने समझाया। वह सूत्रधार को पर्दानशीं कहा करता था।

'नहीं, नहीं!' वह पीड़ा से चीख उठा— 'मैं सूत्रधार की नहीं, शायरी की बात कर आया हूँ।... तुमने उसे बीच में क्यों घसीट लिया?'

'शायरी की!' मैंने उसे शांत करते हुए पूछा—'किसकी शायरी?'

'अकबर बादशाह की!' वह शांत हुआ।

'अकबर बादशाह...!' मैं चौंका।

'हाँ! पहले एक शेर सुनो!' उसने सुनाना शुरू किया—

'बेपर्दा नजर कल जो आईं चंद बीवियां,
अकबर ज़मीं में ग़ैरते कौमी से गड़ गया।
पूछा जो मैंने बीवियों, पर्दा वे क्या हुआ,
बोलीं कि वो तो अक्ल पे मर्दों की पड़ गया।'

दो क्षण रूक कर वह बोला—'अब दूसरा शेर सुनो।' उसने सुनाना शुरू किया—

'पर्दा है पर्दा, पर्दे के पीछे पर्दानशीं है,
पर्दानशीं को बेपर्दा न कर दूं तो
अकबर मेरा नाम नहीं!'

मेरी समझ में कुछ नहीं आया। अकबर बादशाह, अकबर इलाहाबादी और फिल्मी कव्वाली—ये सब क्या गड़डमड़ड है।

'तुम्हारी समस्या क्या है?' मैं जानता था, वह विक्षिप्त है, फिर भी मैंने पूछा।

'समस्या यह है कि इन दोनों शेरों में अकबर की पक्षधरता किसके साथ है—पर्दे के साथ या बेपर्दगी के साथ? कहीं तो वो बेपर्दा बीवियों को देख कर शरम से गड़ जाता है और कहीं वो पर्दानशीं को बेपर्दा करने की बात करता है। आखिर माजरा क्या है?'

इस बात का मैं क्या जवाब दे सकता था? एक-से नाम होने की वजह से वह ऐतिहासिक घपला कर रहा था और यह तय था कि मेरे बताने पर भी वह इस तथ्यात्मक विसंगति को स्वीकार नहीं करता।

'भई, मेरी समझ में तो कुछ आ नहीं रहा! तुम कहना क्या चाहते हो।' मैंने इस उलझन से बचना बेहतर समझा।

'खा गए न मात! कविवर, तुम शायरी नहीं समझते, तो करते क्यों हो?' वह विजेता की तरह गर्वीली मुस्कान से हँसा—' मैंने इस पर दो महीने तक सोचा, तब जा कर ये गुत्थी सुलझी।'

'वो कैसै?' मैंने अपनी झुंझलाहट प्रकट नहीं की।

'तुम्हें ये तो पता ही होगा कि अकबर सब को एक निगाह से देखता था। मर्द-औरत उसकी नजर में एक थे।' उसने समझाना शुरू किया—'औरतें चूँकि पर्दे में रहती थीं, इसलिए उनका पर्दा हटवाने के लिए उसने लिखी—पर्दानशीं को बेपर्दा करने वाली बात! इसके लिए उसने कमर कस ली और पर्दा हटवा कर ही दम लिया। वरना उसका नाम अकबर कैसे रहता।'

इस विचित्र किंतु रोचक व्याख्या से अभी मैं हतप्रभ था ही कि उसने दूसरे शेर की व्याख्या शुरू की—'तुम्हें ये भी पता होगा कि अति हर चीज की बुरी होती है!... अब बेपर्दगी की अति हो गई।इस अति से वो इतना दुखी हुआ कि मारे शरम के जमीन में गड़ने लगा।... परेशान हो कर उसने एक भद्र महिला से पूछा, तो उसने तुनक कर कहा कि पर्दा तो मर्दों की अकल पे पड़ गया।... मर्दों की ये तौहीन उसे बर्दाश्त नहीं हुई और उसने दुबारा पर्दा-प्रथा शुरू करा दी, जो आज तक कायम है।' वह ठठा कर हंसा।

उसकी व्याख्या सुन कर उसके साथ मैं भी हँसना चाहता था कि एकाएक उसका चेहरा बेहद करुण हो उठा।

पर्दे का संदर्भ आते ही उसके मन में विषाद भर जाता था। उसका मानना था कि उसकी दुर्गति करने वाला अभी पर्दे के पीछे है और उसके चेहरे से पर्दा हट क्यों नहीं रहा है, अभी तक!

कुछ देर चुप रह कर उसने कहा—'कविवर, अब की बार ऐसा नाटक लिखो जो इस नाटक का पर्दाफाश हो जाए!... अब ज्यादा सहना मुश्किल है।'

मुझे प्रसन्नता हुई कि पर्दा-प्रसंग को ले कर वह गंभीर हुआ है।

...यह विदूषक था, जो पहले कभी नायक बना करता था।

पूर्वाभास

सूत्रधार को राजधानी की बड़ी नाटक-कंपनी में निर्देशक के निजी सहायक के रूप में नौकरी मिल गई थी। वह निर्देशक की चाय और पान-सिगरेट का इंतजाम करता था। यहीं उसने खुश करने की कला सीखी और इसके सहारे छोटी-मोटी भूमिकाएँ भी करने लगा। और इसी कला का परिणाम था कि जब अचानक निर्देशक को हृदयाघात हुआ तो वह अपने निजी सहायक को ही अपना उत्तराधिकारी नामजद कर गया।

सूत्रधार बनते ही उसने सबसे पहला काम यह किया कि पत्र लिख कर रमाशंकर को बुलवा भेजा। दरअसल अपनी प्रतिभा को वह स्वयं भी अच्छी तरह पहचानता था और सूत्रधार बने रहने के लिए रमाशंकर का उसके साथ होना नितांत आवश्यक था।

रमाशंकर प्रतिभाशाली अभिनेता था और नौटंकी जगत में उसका प्रतिद्वंद्वी कोई नहीं था। रमाशंकर से ही सूत्रधार ने अभिनय का प्रशिक्षण लिया था।

राजधानी आने का रमाशंकर का कोई विचार नहीं था, लेकिन सूत्रधार के हाथ-पैर जोड़ने पर वह पसीज गया और अपनी अच्छी-खासी नौकरी छोड़ कर राजधानी चला आया। उसके साथ मेरा भी आ जाना स्वाभाविक था।...

नायक

सफलता का यह सूत्र सूत्रधार के हाथ आ गया था कि महत्वपूर्ण पदों पर अपने आदमियों को नियुक्त किया जाए। पिछले नाटककार के स्थान पर मुझे और पिछले नायक को सह-नायक बना कर रमाशंकर को नायक नियुक्त किया गया।

रमाशंकर मंच पर धीरोदात्त नायक रहता था, तो मंच के बाहर धीर-ललित और धीर-प्रशांत भी। अपने सहयोगियों से वह नम्रता का व्यवहार करता था।

मंच पर वह एक लोकप्रिय अभिनेता था। दर्शक-दीर्घा में उसके अभिनय की भूरि-भूरि प्रशंसा होती थी। 'महाभारत' में वह युधिष्ठिर बनता था, तो 'रामराज्य' में राम। नाटक-कंपनी अकसर 'रामराज्य' नाटक करती थी और राम के रूप में रमाशंकर का अभिनय इतना सजीव होता था कि दर्शक उसे साक्षात् राम ही समझते थे और बाकायदा उसके चरण छूने लगते थे। लोकप्रियता की चरम स्थिति ने उसे नट-सम्राट और जननायक तक की पदवी भी दिला दी थी।

रमाशंकर की लोकप्रियता से नाटक कंपनी ने बेहद सफलता और लोकप्रियता अर्जित की। सूत्रधार भी मुग्ध था।

यह स्थिति कुछ वर्षों तक रही, पर बाद में...

नेपथ्य

सूत्रधार को न जाने क्यों यह शंका होने लगी कि रमाशंकर की सफलता उसके लिए खतरा बन रही है। रमाशंकर अपने सहयोगी अभिनेताओं में भी लोकप्रिय हो गया था, और यह तथ्य उसकी इस

आशंका को पुष्ट भी करता था। उसे भय लगने लगा कि नौटंकी की तरह एक दिन वह इस नाटक-कंपनी से भी निकाल दिया जाएगा और रमाशंकर सूत्रधार बन जाएगा।

इस आशंका के पीछे उसकी अपनी मनोग्रंथियां थीं। मैंने कहा न कि वह कुंठित मनोवृत्तियों का शिकार था। फलत: रमाशंकर को वह अपना प्रतिद्वंद्वी मानने लगा था और उसे नीचा दिखाने का कोई अवसर चूक नहीं रहा था।

रमाशंकर इस व्यवहार से मन ही मन क्षुब्ध होता, पर प्रकट नहीं करता था। सूत्रधार का सम्मान वह यथावत् करता रहा।

सहयोगी अभिनेता सूत्रधार की क्षुद्रता और रमाशंकर की सहनशीलता—दोनों से खिन्न रहते थे।

शुरू-शुरू में सहयोगी कलाकार रमाशंकर को शंकालु दृष्टि से देखते थे। उन्हें लगता था कि वह सूत्रधार का खास आदमी है, तभी तो वरिष्ठता को ताक पर रख कर उसे हमारे ऊपर ला बिठाया गया है।... लेकिन रमाशंकर ने अपने विनम्र व्यवहार से उनके भ्रम का निवारण कर दिया। अब स्थिति यह थी कि वे लोग न केवल रमाशंकर का सम्मान करते थे, बल्कि उस पर जान छिड़कते थे। वे उसे जोश दिलाने के लिए अक्सर 'दब्बू' या 'स्वामिभक्त' भी कहते, पर रमाशंकर इन फिकरों से अविचलित रहता।

सूत्रधार ने उनमें फूट डालने के लिए तरह-तरह के षड्यंत्र रचे, मगर सफल नहीं हो सका।

क्षेपक

नौटंकी बंद हो गयी थी और वहाँ के रंगकर्मी बेकार हो गए थे। पारसनाथ भी इनमें से एक था और काम की तलाश में अपने पुराने साथी रमाशंकर के पास आया था।

सूत्रधार ने रमाशंकर की सिफारिश ठुकरा दी थी और पारसनाथ को नाटक-कंपनी में नौकरी नहीं मिली। सूत्रधार नया खतरा मोल नहीं लेना चाहता था।

पारसनाथ को सूत्रधार से इस व्यवहार की आशा नहीं थी।

पारसनाथ भी प्रतिभाशाली कलाकार था। उसे नौकरी न मिलने से रमाशंकर भी क्षुब्ध हुआ, पर कुछ बोला नहीं।

लेकिन पारसनाथ चुप नहीं बैठा। उसने कंपनी के कलाकारों को सूत्रधार की प्रतिभाओं का परिचय देना शुरू कर दिया। उसने रमाशंकर द्वारा अभी तक गुप्त रखा गया यह तथ्य भी उजागर कर दिया कि सूत्रधार किसी जमाने में रमाशंकर का मातहत था।

जिस तरह नीले सियार का भेद खुलते ही जंगल के जानवर उस पर झपट पड़े थे, उसी तरह नाटक-कंपनी के कर्मचारियों ने सूत्रधार की अवमानना शुरू कर दी।

सूत्रधार बुरी तरह बौखला गया था।

रमाशंकर भी अजीब दुविधा में फंस गया। कभी वह सूत्रधार को समझाने की कोशिश करता और कभी अपने सहयोगियों को शांत करने की। परिणाम यह हुआ कि सूत्रधार के आवेश और सहयोगियों के रोष को अपने पर झेलता। उसने पुल बनने की कोशिश की थी, मगर दो पाटों के बीच फँस गया था।

पारसनाथ की उपस्थिति सूत्रधार को सह्य नहीं थी। रमाशंकर के माध्यम से उसने उसे भगाने की हर संभव कोशिश की, पर पारसनाथ टला नहीं।

कुछ दिन बाद वह टल भी गया, पर इस बीच रमाशंकर सूत्रधार के मन में कांटे की तरह चुभ गया था। उसे निकाल फेंकने की योजना उसने बना डाली।

मंच

'रामराज्य' नाटक का मंचन था। मंचन से केवल आधा घंटा पहले सूत्रधार ने घोषणा की—'आज राम मैं बनूँगा और रमाशंकर लक्ष्मण की भूमिका निभाएँगे!

सारे रंगकर्मियों के साथ-साथ रमाशंकर भी सकते में पड़ गया। पर सूत्रधार से कुछ कहने का साहस वह बटोर नहीं पाया।

मंचन हुआ। राम के रूप में सूत्रधार की प्रतिभा दर्शकों के भी सामने आ गई थी। दर्शकों ने चीखना-चिल्लाना शुरू किया। पर्दा गिरा और पर्दे के पीछे से सूत्रधार ने घोषणा की—

'भाइयों, अस्वस्थता के कारण रमाशंकर राम की भूमिका में नहीं आ रहे हैं। किंतु फिर भी आपकी इच्छा का सम्मान रखते हुए वे लक्ष्मण के रूप में शीघ्र मंच पर आ रहे हैं।'

दर्शक शांत हुए।

पर्दा उठा और मंच पर लक्ष्मण-शक्ति का प्रसंग उपस्थित हुआ।... शक्ति लग जाने से लक्ष्मण अचेत पड़े थे और राम विलाप कर रहे थे।...

रमाशंकर अचेत लक्ष्मण की भूमिका में आँखें बन्द किए पड़ा था। राम के रूप में सिरहाने बैठा सूत्रधार विलाप कर रहा था और मन ही मन दर्शकों में रमाशंकर की माँग को ले कर झुंझला भी रहा था।...

अचानक राम ने लक्ष्मण की छाती पर हाथ मार कर विलाप किया—'हाय, लक्ष्मण! अब मैं सुमित्रा माँ को क्या मुंह दिखाऊँगा!' ...रमाशंकर को सीने पर घूंसों का जबर्दस्त आघात लगा। पीड़ा से वह चीखना चाहता था, मगर वह अचेत लक्ष्मण की भूमिका कर रहा था। चुपचाप पड़ा रहा।

पर्दा गिरा! रमाशंकर की चीख सुनाई दी। नेपथ्य में हलचल हुई। पुन: घोषणा की सूत्रधार ने—

'बंधुओं! रमाशंकर को हृदयाघात हो गया है। अत: नाटक यहीं समाप्त करने को हमें विवश होना पड़ रहा है।'...

नेपथ्य के साथ-साथ दर्शक-दीर्घा में भी खलबली मच गयी। दर्शक नेपथ्य में घुस आए। रमाशंकर तड़प रहा था।

हृदयाघात की अंतर्कथा किसी को मालूम नहीं हो सकी। सूत्रधार ने चुपचाप क्षमा माँग ली थी और रमाशंकर ने क्षमा करते हुए यह भेद अपने सीने में दर्द के साथ-साथ सहेज कर रख लिया था।...

निष्कंमक

नाट्यशाला के अलावा रंगकर्मियों के निजी जीवन में जो नाटक चल रहा था, उसमें कोई नाटकीय मोड़ नहीं आया था। इसका श्रेय रमाशंकर को जाता था।...

नाटकीय मोड़ की बागडोर सूत्रधार ने संभाली।...

करीब बीस दिन के व्यवधान के बाद रमाशंकर मंच पर उतरा था। 'महाभारत' का मंचन था। दर्शकों के आग्रह पर उसने स्वयं ही एक छोटी-सी भूमिका चुन ली थी।...

अश्वत्थामा की मृत्यु की सूचना देनी थी। युधिष्ठिर के रूप में सूत्रधार, कृष्ण के रूप में रमाशंकर,

तथा अन्य पात्र खड़े थे। युधिष्ठिर बने सूत्रधार ने कहना शुरू किया—

'अश्वत्थामा हतो, नरो वा कुंजरो वा!'

'हतो' सुनते ही कृष्ण बने रमाशंकर ने शंख में फूँक मारी। लेकिन यह क्या?

युधिष्ठिर ने अपना वाक्य भी पूरा कर लिया और कृष्ण ने शंख भी नहीं बजाया। अब क्या हो? गुरु द्रोण कैसे मरें?

पर्दा गिरा। पड़ा रहा। पर्दे के उस पार एक और नाटक चला।...

'तुम मेरी कंपनी को फेल कराने पर तुले हो, रमाशंकर? सूत्रधार चीखा।

'सूत्रधार—... 'रमाशंकर फुसफुसाया।

'सूत्रधार के बच्चे! तुमने शंख क्यों नहीं बजाया?' सूत्रधार गुस्से में काँपा।

'मैं...मैंने...फूँक मारने...की कोशिश की...लेकिन...जोर लगाने...से...सीने में...दर्द होने लगा!' रमाशंकर हाँफ रहा था। उसका सांस फूला हुआ था।

गुस्से में भरे सूत्रधार ने रमाशंकर के हाथों से शंख छीन लिया और उसके सिर में दे मारा।

दर्दनाक सिसकी के साथ रमाशंकर अपना सिर पकड़ कर बैठ गया। खून की एक मोटी धारा सिर से टपकती हुई पूरे फर्श पर फैल गयी।...

पर किसी ने यह दृश्य नहीं देखा क्योंकि बिजली की-सी तेजी से झपट कर नटी ने बिजली गुल कर दी थी।

नटी

वह महिला नाटक-कंपनी के पिछले निर्देशक की विधवा थी, जिसे सूत्रधार ने घोषित तौर पर तो दया भाव और कृतज्ञता-ज्ञापन के आधार पर कंपनी में नौकरी दी थी, लेकिन गुप्त रूप से वह उसकी रक्षिता की भूमिका निभा रही थी। उसे ले कर सूत्रधार के परिवार में भी झगड़ा बना रहता था और उसकी पत्नी कई बार नाटक-कंपनी में आकर फजीहत भी कर चुकी थी। पर चूँकि रंगकर्मियों की सहानुभूति निर्देशक की विधवा के साथ थी, इसलिए वे सूत्रधार की पत्नी के व्यवहार को अकारण ईर्ष्या मान कर कोई महत्व नहीं देते थे।

नाटक-कंपनी में निर्देशक की विधवा नटी बना दी गयी थी और दुर्घटना वाले दिन वह गांधारी की भूमिका में वहीं मंच पर एक कोने में विराजमान थी।

सूत्रधार का शंख वाला हाथ ऊपर उठते-उठते ही उसने दुर्घटना को भाँप लिया था और तुरंत बिजली का स्विच बंद कर दिया था। अंधेरे का लाभ उठा कर सिर की चोट का कारण दीवार के कोने से टकराना बता दिया गया था।

रूपांतरण

रमाशंकर को तुरंत अस्पताल ले जाया गया। अत्यधिक रक्तस्राव और सिर की चोट के कारण उसकी चेतना गुम हो गई थी। वह स्मरण-शक्ति खो बैठा था। दिमागी चोट के कारण वह विक्षिप्त हो गया था। सूत्रधार का भाग्य ही था कि रमाशंकर दुर्घटना का ब्यौरा देने की स्थिति में नहीं था। स्वस्थ हो जाने के बाद भी उसकी चेतना पूरी तरह नहीं लौट सकी।

वह अकसर गुमसुम रहता था। कभी बिना बात हँस पड़ता था, तो कभी बिना बात ही रोने लगता था। उसका व्यवहार और बातों का सिलसिला भी ऊलजलूल हुआ करता।

सूत्रधार का रास्ता निष्कंटक हो गया था। लेकिन रमाशंकर की इस बेढब उपस्थिति से भी वह

चिंतित था। अभिनय के योग्य वह रह नहीं गया था और नौकरी से निकालने पर रंगकर्मी ही नहीं, दर्शक भी सूत्रधार के खिलाफ हो सकते थे। काफी सोच-विचार के बाद उसने एक उपाय निकाला।

रंगकर्मियों को बुला कर उसने एक प्रस्ताव रखा—

'दोस्तो! आपको शायद पता नहीं, रमाशंकर से मेरा क्या रिश्ता था! मैं उन्हें अपना मातहत नहीं, बल्कि बड़ा भाई मानता था। उसी तरह उनको इज्जत भी देता था!'... सूत्रधार अपना गला भर लाया और भावुकता की सीमा को छूते हुए विह्वल स्वर में बोला—'रमाशंकर मेरे दाएँ हाथ थे! यह नाटक कंपनी जिस एक अकेले आदमी के दम पर चल रही थी, वह रमाशंकर थे।... उनके अचानक स्मरण-शक्ति खो बैठने से मेरा दाहिना हाथ टूट कर अलग हो गया है।' वह दो पल रुका। न जाने कैसे उसकी आँखें भी डबडबा आईं!

रंगकर्मी स्तब्ध रह गए। क्या यह वही सूत्रधार है, जो कदम-कदम पर रमाशंकर का अपमान कर देता था?

'इतने लंबे समय तक साथ-साथ रहने से कभी-कभी गलतफहमियाँ भी हो जाती हैं।' सूत्रधार ने आँखें पौंछते हुए कहा—'लेकिन हमारे मन में कभी मैल नहीं आया! मानता हूँ, मैं तुनुकमिजाज हूँ, इसलिए उनसे भी कभी कुछ उल्टा-सीधा कह बैठता था। लेकिन ये भी सच है कि हर बार मैं अपने किए पर पछताया और उनसे माफी माँगी!'

रंगकर्मियों ने सूत्रधार के इस नाटक की प्रशंसा की। पर यह उनकी समझ में नहीं आया कि यह भूमिका किस नाटक की है।

'वह मेरे आत्मीय हैं, अंतरंग हैं।' सूत्रधार ने फिर कहना शुरू किया—'मुझे पूरा विश्वास है कि कुछ दिन में वह पूर्ण स्वस्थ हो जाएँगे और पुन: 'रामराज्य' के और हम सब के राम बन जाएँगे।... लेकिन तब तक, अगर आप लोग इजाजत दें तो हम कुछ नए सामाजिक नाटक करें और रमाशंकर जी का अभिनय में मन लगाए रखने के लिए उन्हें विदूषक की भूमिका में प्रस्तुत कर दें!' कहते-कहते वह भावुक हो उठा।

रंगकर्मी भी सूत्रधार की स्नेहशीलता के प्रति श्रद्धानत हो गए।

'यही सबसे बढ़िया उपाय है!' सब ने एक स्वर से कहा।...

धार्मिक-ऐतिहासिक नाटकों के स्थान पर सामाजिक नाटक होने लगे और रमाशंकर अपनी ऊल-जलूल हरकतों से दर्शकों का मन बहलाने लगा—विदूषक बन कर।

मध्यांतर

पारसी रंगमंच शैली के धार्मिक-ऐतिहासिक नाटकों के अभ्यस्त दर्शकों को 'समाज को बदल डालो' जैसे अछूतोद्धार, नारी-उत्थान और दहेज की समस्याओं वाले नाटक देखने को मिलने लगे। शुरू में तो दर्शकों को ये नाटक रूचिकर लगे, किंतु कुछ दिन में ही वे इनसे ऊबने लगे।

दर्शकों की संख्या कम होने लगी।

सूत्रधार फिर परेशान हो गया। उसे अपनी नाटक-कंपनी की सत्ता ही खतरे में पड़ती दिखायी दे रही थी। अस्तित्व का संकट उपस्थित हो गया था।... अब क्या होगा?... अपना ही अस्तित्व संकट में है तो रामासरे का क्या होगा?

रामासरे यानी रामाश्रय सूत्रधार का बड़ा बेटा था, जो पढ़ा-लिखा नहीं था। प्रतिभा में वह अपने पिता पर गया था। सूत्रधार को उसके लिए एकमात्र भविष्य नाटक-कंपनी में ही नजर आता था और उसे रमाशंकर का स्थान दिलाने की बात वह बहुत गंभीरता से सोच रहा था।...

सहसा सूत्रधार को पारसनाथ की याद आई। काश, पारसनाथ उसके इस नालायक बेटे को सिखा-पढ़ा कर किसी लायक बना दे!... काश, उसे भगाया न होता।...

संयोग से उसी दिन पारसनाथ उसे मिल भी गया। सूत्रधार अपने भाग्य को सराह रहा था कि पारसनाथ याद करते ही प्रकट हुआ।

पर पारसनाथ मात्र संयोग से ही प्रकट नहीं हुआ था, बल्कि रमाशंकर की विक्षिप्तावस्था का हाल बता कर रंगकर्मियों ने बुलाया था। वह पहले तो रंगकर्मियों पर ही बिगड़ा, सूत्रधार के कुटिल पाखण्ड को न समझ पाने के लिए उनकी लानत-मलानत की, लेकिन बाद में उन लोगों से मंत्रणा करके उसने रमाशंकर की मानसिक हत्या का बदला लेने की योजना बना ली थी।...

संवाद

'पारसनाथ, मैं कई दिनों से तुम्हें ही खोज रहा था, भैया!... तुम कहाँ चले गए थे!' हर्षातिरेक का प्रदर्शन करते हुए सूत्रधार बोलता चला गया—'रमाशंकर के हाल-चाल भी पूछने नहीं आए तुम तो!... भैया, हमने एक बहुत प्यारा दोस्त खो दिया है!... वह अपना होश खो बैठा है, भैया!' सूत्रधार फिर भाव-विह्वल हुआ।

'मुझे पता चला था, भैया! तभी मैं चला आया। अब जो भगवान को मंजूर था, वही हुआ!' अफसोस की मुद्रा बनाते हुए पारसनाथ ने एकदम पैंतरा बदला—'पर भैया, तुम्हारी नाटक-कंपनी का क्या हाल है?... रमाशंकर की हालत बिगड़ने के बाद वह भी, सुना, डावाँडोल हो रही है!... मैं इसलिए चला आया कि मेरी सेवा लेना चाहो, तो मैं हाजिर हूँ।' पारसनाथ हर वक्त भाँग चढ़ाए रहता था और पान चबा कर 'खपच्-खपच्' कर के बोलता था।

सूत्रधार की बाछें खिल आईं। बोला—'कैसी सेवा, भैया!... तुम तो मेरे भाई हो, कंपनी पर तुम्हारा भी उतना ही हक है, जितना कि मेरा!' दो पल रुक कर फिर बोला—इस नालायक रामासरे को भी अपना बच्चा समझ कर किसी लायक बना लो। बाप तो किसी लायक नहीं, यही ससुरा किसी दिन नायक बन कर मंच पर आ जाए, तो मेरे मन की साध पूरी हो जाएगी! पर इसके लिए तुम्हारी देख-रेख की जरूरत है। आज से इसे और नाटक-कंपनी को तुम्हीं संभालो, भैया!'

पारसनाथ सूत्रधार की संपाती-दृष्टि को एकदम भाँप गया। बोला—'ये तो हमारी जिम्मेदारी है कि बच्चा कुछ लायक बन जाए। अब तुम इसकी चिन्ता छोड़ दो!'

पारसनाथ सूत्रधार को अनाथों का नाथ लगा।

नाट्य-प्रयोग

पारसनाथ ने रामासरे को प्रशिक्षण कम दिया, अधिकतर उसे चढ़ाया ही। अकारण प्रशंसाओं से रामासरे अपने पिता से भी कहीं ज्यादा दंभी, मूर्ख और निरंकुश बन गया। अपने आगे वह किसी को कुछ नहीं समझता था—स्वयं अपने पिता को भी।

दरअसल पारसनाथ ने अपनी दिव्य-दृष्टि से यह भाँप लिया था कि सूत्रधार और नटी के संबंधों से रामासरे बुरी तरह कुपित है और अपनी असहाय माँ के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए भीतर ही भीतर व्यग्र है। पारसनाथ ने बड़े स्नेह और चतुराई से रामासरे के मन में दबी प्रतिशोध की चिनगारी को हवा दे कर ज्वाला में बदल डाला था। वह पिता-पुत्र को रुस्तम-सोहराब की तरह एक-दूसरे से भिड़ाने का स्वप्न देख रहा था।

इस बीच नाटक-कंपनी के कई नाटकों का मंचन किया—धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक—सभी

तरह के। कुछ नाटकों में प्रयोग के नाम पर इतिहास, पुराण और समसामयिकता का ऐसा घपलाघोल किया कि वे फूहड़ पैरोडी नजर आते।

तभी पारसनाथ ने एक विचित्र नाट्य-प्रयोग किया।

यह नाटक पशु-संस्कृति, मानव-संस्कृति का मिश्रण तो था ही, साथ ही साथ पुराण और आधुनिकता का भी इसमें विचित्र समन्वय किया गया था।

ग्रीन रूम

नाटक के मंचन से ठीक पहले पारसनाथ ने सारे रंगकर्मियों को अपनी योजना की जानकारी दे डाली—'आज वह दिन आ पहुँचा है, जिसका हम सब को इंतजार था। सूत्रधार के अभिनंदन का शुभ मुहूर्त आज ही होगा। उनके सारे पुण्य-प्रताप अपना प्रतिदान माँग रहे हैं। इसके लिए हम सब को अपनी भूमिका अच्छी तरह याद होनी चाहिए। अभिनंदन के लिए नारियल फोड़ने का पवित्र कर्म मैं ही संपन्न करूँगा।'

ग्रीन रूम में नाटक का रिहर्सल शुरू हो गया।

सब लोग अपनी-अपनी भूमिका के अनुरूप मुद्रा और भंगिमा दुहराने लगे।

इस नाटक का प्रच्छन्न सूत्रधार पारसनाथ विजया का सेवन कर रहा था और विजय की कामना भी।

मंचन

विचित्र नाटक का शुभारंभ भी विचित्र ढंग से हुआ। सारंगी के कोमल स्वरों के बीच ही नगाड़े से छतफाड़ धमाका हुआ और मंच पर पैराशूट की तरह अवतरित हुआ सूत्रधार— विचित्र वेश में। उसने शरीर पर एक कीमती सूट पहना हुआ था और सिर पर हिप्पीनुमा बालों में मोरपंख टाँका हुआ था— प्रयोग-नाटक की प्रयोगधर्मिता को ले कर वह काफी गद्‌गद लग रहा था और शायद उस झोंक में दर्शकों से बोला—

'सज्जनों, आपको जान कर हर्ष होगा कि आज हम अपनी नाट्य-मंडली की रजत जयंती मना रहे हैं। पिछले पच्चीस वर्षों से हमने अपनी मंडली के माध्यम से आप लोगों का मनोरंजन करने की भरपूर चेष्टा की है। आज उसी क्रम में हम एक नए तरह का नाटक आपको दिखा रहे है, जिसमें पौराणिक युग से आज तक की कहानी कही गई है—मनुष्य और पशुओं के माध्यम से। नाटक का शीर्षक तो आपको पता ही है, फिर एक बार बता दूं—श्रगाल-पुरूष जो...'

नाटकीय विडम्बना

सूत्रधार का वाक्य अभी पूरा भी नहीं हुआ था कि सहसा मंच पर पारसनाथ आया और सूत्रधार के हाथ से माइक ले कर बोला—'स्वयं सूत्रधार के रूप में आपके सामने उपस्थित हूँ!...'पारसनाथ कुछ रूका; सूत्रधार को पारसनाथ द्वारा हाथ से माइक लेना विचित्र लगा और यह वाक्य भी। तभी पारसनाथ ने अपनी खपच्-खपच् वाली शैली में भाषण देना शुरू किया—'सज्जनो! आज के इस नाटक की कहानी में पूरे मानव-समाज का इतिहास है, इस नौटंकी... यानी अपनी इस नाटक-मंडली का इतिहास है, हमारे समाज का इतिहास है, राजनीति का इतिहास है... गरज यह कि हमारे दौर का लेखा-जोखा है।...'

पारसनाथ फिर रुका। पारसनाथ द्वारा की गयी नाटक की इस बहुआयामी व्याख्या से सूत्रधार गद्‌गद हो गया। उसे यह आभास नहीं था कि इस विचित्र किंतु अति साधारण नाटक की इतनी दार्शनिक व्याख्या भी हो सकती है।

पारसनाथ ने फिर बोलना शुरू किया—'सज्जनो, हर्ष का विषय है कि आज नाटक-मंडली की रजत-जयंती है और संयोग से आज ही सूत्रधार ने भी जीवन के पचास वर्ष पूरे किए हैं। इस तरह मंडली की रजत-जयंती और सूत्रधार की स्वर्ण-जयंती का संयोग आज का दिन है।... इस नाटक के बाद हम रंगकर्मी मिल कर इस अवसर पर उनका अभिनंदन करेंगे! आपसे अनुरोध है कि आप भी उस अभिनंदन-समारोह में सम्मिलित हो कर हमारा उत्साह और कार्यक्रम की शोभा बढ़ाएं।' पारसनाथ ने ताली बजाई और दर्शक-दीर्घा भी करतल ध्वनि से गूँज उठी। अपने पचासवें जन्मदिन की बात सुन कर भी सूत्रधार को अजीब-सा लगा, पर अभिनंदन का नाम सुन कर इस झूठ को चुपचाप पी गया।

उस समय भी पारसनाथ सूत्रधार को अनाथों का नाथ लगा।

दृश्यांतर

नाटक शुरू हो गया और दर्शक-दीर्घा बड़े विस्मय और कौतूहल से उस विचित्र नाटक को देखने लगी।

नाटक का पहला दृश्य इस प्रकार था—

राम और सीता पंचवटी में बैठे हैं। एक कौआ सीता के पैरों के पास उछल-कूद कर रहा है। कुछ देर बाद वह सीता के पैरों के चोंच मारने लगा। सीता विचलित हो उठीं। राम को क्रोध आया। उन्होंने तीर से कौए की एक आंख फोड़ दी।...

इसके बाद दूसरा दृश्य—

इन्द्र की सभा जुड़ी है। सहसा आंख-फूटा कौआ प्रवेश करता है।

'हा, बेटे जयंत! तेरी यह दुर्गति किसने की!' इंद्र घबरा कर बोला।

'तुम्हारे मित्र राम ने!' कौए ने विलाप किया।

'मर्यादा पुरूषोत्तम राम ने!' इंद्र ने क्रोध में कहा—'उन्होंने मित्रता की सारी मर्यादा भंग कर दी। ... मैं उन्हें शाप देता हूं कि जिस सीता के लिए उन्होंने तेरी आँख की बलि ली है, वह सीता उनसे बिछड़ जाएँगी।... और बेटे जयंत, तू कोई चिंता मत कर! तेरी एक आँख ही दो आँखों के बराबर होगी। यह तुझे मेरा वरदान है कि तेरी काक-चेष्टा कलियुग में समूचे ब्रह्मांड में ख्याति अर्जित करेगी!'...

तीसरा दृश्य इस प्रकार था—

बर्फ के विशाल पहाड़ पर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव पड़े पड़प रहे हैं। एक तरफ द्रौपदी कराहती हुई कहती है—'हा प्राणनाथ धर्मराज! आपको न अपने भाइयों के प्रति दया आई न मेरे प्रति। एक कुत्ता ही आपका सगा था, जिसे अपने साथ स्वर्ग ले गए! यही था आपका धर्म!... सुनिए, धर्मराज! मेरा शाप है कि कलियुग में आप जैसा धर्माचारी दर-दर की ठोकरें खाएगा और आपका यह कुत्ता जिसे आप साक्षात् धर्मावतार बताते हैं, धोबी का कुत्ता बन कर न घर का रहेगा न घाट का!...

चौथा दृश्य—

आधुनिक ढंग से सजा एक कमरा है। एक बच्चा पाठ याद कर रहा है—'विद्यार्थी के लक्षण हैं—कौए जैसी चेष्टा, बगुले जैसा ध्यान और कुत्ते जैसी नींद!... काक चेष्टा, बको ध्यानं, श्वान निद्रा...!

सहसा एक व्यक्ति कमरे में प्रकट होता है।

'पापा, आपको पता है, विद्यार्थी के क्या लक्षण हैं?' बच्चा पूछता है—'मैं बताता हूं—काक चेष्टा,

बको ध्यानं, श्वान निद्रा!...'

'बेटा, मैंने कितनी बार कहा है कि मुझे संस्कृत नहीं आती! बचपन में पढ़ी थी... पर मेरे पल्ले नहीं पड़ी।' पिता झल्ला कर कहता है।

'अच्छा पापा, ये तो आप बता ही सकते है कि कौए, बगुले और कुत्ते की क्या खूबियाँ हैं?' बच्चा फिर पूछता है।

'क्या बताऊँ, बेटा! आजकल ये खूबियाँ कलियुग के आदमी में आ गई हैं। वो दूसरे के माल पर कौए जैसी नजर रखता है, बगुले जैसा ध्यान लगाता है, और कुत्ते की तरह जीभ लपलपाता है। और मुझे तो वो बिल्कुल रंगा सियार नज़र आता है।'...

पाँचवां दृश्य जंगल का था—

एक शेर घनी झाड़ी में ऊंघ रहा है। तभी एक खरगोश आ कर उसे जगाता है।

'महाराज!... महाराज!... निद्रा से जागिए!'

'कौन है बे!' शेर गुर्राता है।

'महाराजाधिराज, मैं हूं प्रह्लाद!' खरगोश कहता है।

'जल्लाद!' शेर काँप कर चीखता है।

खरगोश हँसता है—'डरिए मत जंगल के राजा, मैं खरगोश हूँ, आपका पुराना भक्त!'

शेर सहज होता है। 'तुम मुझे जंगल का राजा कहते हो! राजा तो अब वो है... हि... हिरनकश्यप जी! मुझे क्यों मरवाना चाहते हो भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है?' शेर गिड़गिड़ाता है—'मैं तुम्हारे पांव पड़ता हूँ!'

खरगोश ढाढ़स बंधाता है—'क्या कर रहे हैं वनराज! आपके ये पंजे मेरे पांवों में पड़ने के लिए नहीं, वरन उस दुष्ट राजा का वक्ष चीरने के लिए हैं। चलिए मेरे साथ, और चीरिए उसका वक्ष नरसिंह भगवान!'

'मेरे दुर्दिनों का क्यों मजाक उड़ाते हो, मित्र! कहाँ वो राजाधिराज और कहां मैं कंगाल! अपने को शेर कहते भी शर्म आती है। मेरी हालत तो कुत्ते से भी बदतर है। झाड़ियों में भूखा रह कर दिन काट रहा हूँ!' शेर दुखी स्वर में बोलता है—'कहां से चीरूँगा किसी का वक्ष! तुम्हें मालूम नहीं कि उन्होंने मेरे नाखून और दांत तुड़वा कर अपने पास रख लिए हैं?'

'लो, ये नाखून और दांत!' खरगोश अपनी जेब से लोहे का बघनखा और नकली दांतों का एक सैट निकाल कर शेर के सामने रखता है।

शेर हँसता है—'ये तो ठीक है, पर उन्हें मारने की हिम्मत भी है क्या तुम्हारी जेब में!'

'नरसिंहावतार! अब पेट भर गया है जुल्म सहते-सहते! शाम का झुटपुटा है। न दिन है न रात, और आप भी न पूरे शेर हैं न मनुष्य! शुभ मुहूर्त है! मेरा और मेरे जैसे अपने अन्य भक्तों का कल्याण कराइए। वह राजा भगवान का दूत नहीं, बल्कि रंगा हुआ सियार है। मुझे सब पता लग चुका है। आज उसने मुझे खाने के लिए बुलाया है।... मैंने अपने कुछ सियार मित्रों से बात तय कर ली है। वे भी वहां पहुँचते ही होंगे।... 'चलिए, जल्दी कीजिए!' खरगोश चिरौरी करता है।

'रंगा सियार!' शेर बघनखा और दांतों का सैट पहन कर दहाड़ लगाता है।...

पर्दा गिरा, फिर उठा। अंतिम दृश्य उपस्थित हुआ—

एक कुर्सी पर नीले रंग का सियार सामने है। खरगोश उसके पास आ कर कहता है—'मैं आ गया हूं, सरकार!'

सियार जैसे ही उसे खानेको बढ़ता है कि चारों तरफ से सियारों की आवाजें आने लगती हैं।

सियारों की आवाजें सुन कर नीला सियार चौंकता है। खरगोश भागने की चेष्टा करने लगता है। तभी नीला सियार भी सियारों की आवाज में आवाज मिला कर खरगोश को पकड़ने की कोशिश करने लगता है।

'नरसिंहावतार!' खरगोश हाँक लगाता है। तभी पैर पर चढ़ा शेर नीचे कूदता है और रंगे सियार को दबोच लेता है।...

दर्शक-दीर्घा

मैं दर्शक-दीर्घा में बैठा यह अजीब नाटक देख रहा था। दर्शक यह बेहूदगी देख कर बौखला रहे थे। उनका धैर्य जवाब दे रहा था। उनके मन में अजीब खलबली थी।

अंतिम दृश्य का अंत दर्शकों को मालूम ही था। इसलिए वे बड़े क्षुब्ध मन से उठ कर चलने लगे।पर मंच पर हो रही घटना ने एक अजीब नाटकीय मोड़ लिया।

अचानक खरगोश बने अभिनेता ने खरगोश वाला मुखौटा उतार फेंका। यह पारसनाथ था। वह मंच पर आगे की तरफ बढ़ा और दर्शकों को संबोधन किया—

'देखा आपने रंगे सियार का यह नाटक! कायदे से यह नाटक यहीं खत्म हो जाता है। पर अभी नाटक का चरम आना बाकी है!'

'पर्दा गिराओ!' मंच से किसी के चीखने की आवाज आई।

'नहीं, ये पर्दा नहीं गिरेगा!' पारसनाथ चीखा—'अभी ये नाटक जारी रहेगा। जब तक नाटक चलेगा, पर्दा उठा रहेगा!'

'पर्दा गिर कर रहेगा! हम ये नाटक ही नहीं चलने देंगे!' दर्शक-दीर्घा से उठ कर कुछ दर्शक भड़क उठे।

'ठहरिए, सज्जनो!' पारसनाथ ने हाथ जोड़े—'आपका आदेश सिर-माथे! पर्दा गिरेगा—क्योंकि ये नाटक खत्म हो गया!'

पर्दा गिरा दिया गया। पारसनाथ पर्दे के बाहर खड़ा था। पर्दे के पीछे से झगड़े की आवाजें आ रही थीं।

'सज्जनो! अगर आपका आदेश हो तो सिर्फ दो मिनट के लिए पर्दा उठा दूँ। क्योंकि आज इस नाटक-कंपनी का भी पर्दाफाश होने का दिन है!' कहते-कहते पारसनाथ ने पर्दा उठा दिया।

पर्दा उठते ही मंच पर एक सनसनी फैल गयी। सियार बना अभिनेता और नटी साथ मिल कर शेर बने अभिनेता से गुँथे हुए थे। दर्शक भौंचक्के रह गए। पारसनाथ मुड़ा और सियार बने अभिनेता की गर्दन पकड़ कर दर्शकों के सामने ले आया। उसने सियार वाला उसका मुखौटा उतार फेंका। दर्शक सन्न रह गए। यह सूत्रधार था।

सूत्रधार की गर्दन पकड़े-पकड़े ही वह बोला—'सज्जनो, यह रंगा सियार है, जिसे आप सूत्रधार के रूप में जानते हैं। जिस तरह इस नाटक में रंगा सियार अपने को भगवान का दूत बता कर राजा बन बैठा था, उसी तरह यह नीच इस नाटक-मंडली का सूत्रधार बना—इस नटी के साथ षड्यंत्र करके!... और जिस तरह इस नाटक में, शेर अपने नाखून और दांत गंवा कर निरीह कुत्ते जैसी गति को पहुंच गया था, उसी तरह आपका जनप्रिय नायक रमाशंकर इस सूत्रधार के कुटिल षड्यंत्रों का शिकार हो कर विक्षिप्त हो गया और इस नीच ने उसकी इस स्थिति का भी लाभ उठाया और उसे विदूषक बना

दिया।' वह शेर बने अभिनेता की तरफ मुड़ा—

'आओ, मेरे शेर, रमाशंकर! जरा अपनी व्यथा-कथा सुनाओ!'

शेर का मुखौटा उतार कर रमाशंकर सामने आया। उसने दर्शकों की तरफ हाथ जोड़े। कुछ कहना चाहता था, पर कह नहीं सका। होंठ फड़फड़ाए और वह रो पड़ा।

पारसनाथ ने खुद ही सारी कहानी सुना डाली और अंत में भरत-वाक्य की तरह बोला—'और अब यह धूर्त अपने उस मूर्ख लौंडे को नायक और सूत्रधार बनाने की साजिश कर रहा है।'

उत्तेजित दर्शक मंच पर पहुँच चुके थे। उनकी हिंसक आँखें सूत्रधार और नटी को खोज रही थीं, पर तब तक वे गफलत का फायदा उठा कर न जाने कहाँ भूमिसात हो गए थे। □

कविताएँ

संवाद

सुधेश

प्याज़, केले
बच्चे की बनियान, मिट्टी का तेल
एक किलो बेसन, सब चाहिये मुझे एक साथ
योग्य पुत्र, अच्छा बाप
एक आदर्श पति, कहलाने के वास्ते
जबकि मेरे एक मात्र कुर्ते की जेब
बार-बार सिली जाकर
आज भी फटी है
जिसमें पैसा
कितनी मुश्किल से आता है
खेत से खलिहान
बाज़ार से घर के रास्ते, पता नहीं कहाँ
खिसक जाता है।

क्या कहा, संतोष रखूँ
प्याज़ में बदबू है, केला बड़ा मंहगा है
नंगा रहना, प्रकृति से जुड़ना है
चीजें बटोरना
दुःख बटोरना है ?

बस बस, रहने दो उपदेश
संतोष और त्याग, क्या सिर्फ उनके लिए
जिनका एक है खून और पसीना
सब सुख सब भोग

क्या उनके लिए, जिनका जीवन
पड़े पड़े जीना ?

संतोष ने
बना दिया मुझे दब्बू
असमय छीन ली बालों की स्याही
आँखों की रोशनी, मेरी भावी पीढ़ियाँ
न हों नपुंसक इसलिए, प्याज़, केले
बच्चे की बनियान, मिट्टी का तेल
एक किलो बेसन
सब चाहिए मुझे एक साथ
सब चाहिए मुझे एक साथ
आज, और अभी।

समय के दलाल!
खोलो गोदाम
यह तेरी बपौती नहीं
इसमें मेरा भी हिस्सा है।

□

दो कविताएँ

अजित कुमार

(१)

भटकटइया

गुण तो हैं कमल में अनेक
— रंग, खुशबू और ताज़गी।
अशोक में छाया और वैभव के साथ-साथ
चमक है, चिकनाई भी।
गेंदे के फूल की प्रवीणता है—
खिलकर गले का हार बनने में।
इनके अलावा भी
तरुओं, फल, फूलों की सूची बड़ी लंबी।

तो फिर भटकटइया में ऐसी क्या विशेषता है
कि हम सुंदर उसे कहें ?
सामान्य भी नहीं, उसे तो सब कुरूप ही
समझते हैं।
काटकर घूरे में फेंक दिए जाने के बाद भी,
घर की बाड़ बनकर
भटकटइया ने
कांटो के बीच हँसते नन्हें फूल भी खिला दिए।
एक वीर था कि जिसका सर कटने के बाद भी
धड़ बड़ी देर तक
जूझता ही गया।

मनहर न सही,
भटकटइया
सदा तत्पर है।

(२)

टिकुली

रोमांस और दोस्ती के बीच
साफ अंतर किया तुमने —
'मेरे खूब अच्छे दोस्त हो,
तुमसे बात हो सकती है,
तुमपर भरोसा भी मैं करती हूँ,
क्यों न हम इसी तरह
अच्छे मित्र बने रहें!
रोमांटिकली सोचा ही नहीं मैंने कभी
तुमको लेकर!'

शायद और भी कुछ कहतीं,
यदि टोक न दिया होता मैंने —
'तुम नहीं।
बोल रही है यह —
तुम्हारे माथे पर सजी
बड़ी सी लाल टिकुली।
सचमुच, रियलिस्टिकली।'

□

आवाज़ें

नरेंद्र सिन्हा

छँटा तो है धुँधलका
पिघली तो है
थोड़ी बर्फ
मुस्कराई तो है लालिमा
लेकिन क्यों रह गयीं
बिखरते-बिखरते
किरणें ?

नहीं टकराये इस बार गिरि-शिखर
फैलती रहीं
मुस्कानें ही मुस्कानें
मुस्कानें पैंतरे बदलती रहीं
बिसात पर
चलती रहीं चालें।

नेकनियती पर प्रकट किया गया
विश्वास
दिए गए छोटे-मोटे
आश्वासन
लेकिन जमते रहेंगे
अंतरिक्ष में जखीरे
भरता रहेगा
उन्माद का मवाद।

कौन जाने
जाने या अनजाने
कब टूट पड़ेगा
कोई नक्षत्र
कब सुलग उठेगा
सोया हुआ ज्वालामुखी;
कायम है फैसला
ज़लज़ला लाने का
अपनी जगह पर।

शायद एक इंच
सरकी है शांति
आगे बढ़े हैं
एक इंच कदम

लेकिन क्यों रह जाती हैं
तैर कर फ़िज़ा में आवाज़ें
आवाज़ें पिलपिली क्यों बनी हुई हैं?
क्यों नहीं वे हिला देतीं आसमान
बहरे कानों पर फट क्यों नहीं पड़तीं
आवाज़ें।

कब तक. करे कोई
प्रतीक्षा
तबाह कब तक हो
नयी सुबह का सपना
कब तक के लिए
गिरवी है
शिखरों के पास
भविष्य
तुम्हारा, हमारा
सबका।

आवाज़ें गाज बन कर क्यों नहीं गिरतीं
काश! खुद फैसला कर पातीं आवाज़ें। □

(संदर्भ: जेनेवा शिखर वार्ता—१९८५)

हथेली पर अंगारे की तरह

नरेंद्र मोहन

किस सौंदर्य की बात करते हो तुम
किस कला की

कैसे बनाऊँ कला और कविता को
परम सौंदर्य का प्रतीक
जब कि सारे सौंदर्य प्रतीकों के मुहाने पर
सत्ता प्रतीकों को खड़ा कर चुके हो तुम

कैसे रचूँ कलात्मक उपकरणों का शोभाशाली विन्यास
जब कि हर उपकरण के मुँह पर कालिख पोत चुके हो तुम
और सोख चुके हो आख़िरी बूंद तक

कैसे बचाऊँ कविता के पौधे को
आग की लपलपाती ज़ीभों से

मैं क्या करूँ
क्या भाग जाऊँ क्षिप्रा तट के काल भैरव के मंदिर में
और रम जाऊँ तांत्रिक साधनाओं में
क्या भाग जाऊँ भर्तृहरि की गुफाओं में
और लीन हो जाऊँ तपस्या में

मैं क्या करूँ
कैसे साधूँ कला की ऊँची साधना और कविता की मुक्तावस्था
आगजनी, हत्याकांड, डकैती और बलात्कार के जलते माहौल में

मेरे साथियों को आग में झोंक कर
तुम मुझे शांत और निर्विकार रहने की सलाह दे रहे हो
कविता में
जब कि मैं महसूस कर रहा हूँ
कविता को
हथेली पर अंगारे की तरह। □

चार कविताएँ

प्रयाग शुक्ल

(१)

वही पेड़

वही पेड़
फिर दिखा—
कितने बरसों बाद!
खड़ा जहाँ का तहाँ
कि जैसे वह हो
चित्रलिखा!

(२)

जब

जब मैं चल रहा होता हूँ सड़क पर
जब मैं खरीद रहा होता हूँ
चीजें दुकान से!
जब मैं लौट रहा होता हूँ बस में।
जब मैं जा रहा होता हूँ
बाहर अपने शहर से।
जब मैं लेटता हूँ
थक कर बिस्तर पर।
जब मैं पहन रहा होता हूँ कपड़े।
जब मैं लिख रहा होता हूँ चिट्ठी।
जब मैं देख रहा होता हूँ आकाश।
जब मैं खोल रहा होता हूँ दरवाजा।
जब मैं कर रहा होता हूँ इंतज़ार।

तब
तब
आती है एक गहरी पुकार
''तुम्हें चलना है मेरे साथ''

(३)

भेंट

कहीं किसी कोने में रखी हुई
भेंट वह,
एक रात
दिखती है—

स्तब्ध!

सारे जंजालों के बीच
चुप!

प्रतीक्षा में,
देख लिए जाने को—

कम-से-कम
एक बार!

(४)

यह बेमिसाल

यह जो जीवन का
बुना जाल!
रेशा-रेशा इसका देखो—
गुड्डल, कुछ गाँठें,
टूट-छूट
कुछ हैं महीन धागे इतने!
कुछ मोटे,
बड़े और छोटे।
कुछ ढीलें हैं,
कुछ तने हुए।

यह बेमिसाल! □

दो गीत

मधुर शास्त्री

(१)

अश्रु मेरे!
ओ व्यथाओं के तरल अभिनय,
अश्रु मेरे! प्राण के सहचर!
स्वप्न गिन गिन कर पिये तूने,
सत्य के टुकड़े किये तूने,
बाँध डाला काल कालों में,
दिन, महीने और सालों में,
ओ अनागत के मधुर परिणय,
तू नहीं रुकता, सतत निर्झर, प्राण के सहचर!
तू जहाँ, करुणा महकती है,
रात की गोदी दहकती है,
ओ: क्षणजन्मा, सजल अम्लान,
खिलता जीवन, कहीं अरमान,
ओ भुलावों से भरे प्रत्यय,
प्यास हिमजा, मूर्त गंगाधर, प्राण के सहचर!
तू खुशी में साथ रोने में,
दक्ष तू आँचल भिगोने में,
दीन दुखियों का सबल संबल,
तू अंधेरे में बहुत चंचल,
ओ सफलताहीन के निर्णय,
मन मरुस्थल, क्षार तू सागर, प्राण के सहचर!

(२)

घटना भर
ज़िंदगी घटना भर रह गई,
कथा नहीं।
सूर्य उगता, शीश पर दायित्व लेकर,
मैं उसे आशीष देता हूँ।
चाँद उगता, और मेरे पांव छूकर,
लौट वह चुपचाप जाता है।
पीठ पर दिन में,
निशा में वक्षपर बोझा उठाये,
दिल धड़कता है।
भावना करुणा भर रह गई,
व्यथा नहीं!
कभी न कम होने वाली,
'शायद' की उत्सुकता में,
आंखों से न बहने वाले आँसू से
नहलाती है, बहलाती है रोज़
ज़िंदगी।
घुटन, पीड़ा, कुंठा,
असफलता, त्रास और निराशा
ऐसे सब विशेषण कर रहा एकत्र
फिर भी ज़िन्दगी निस्संज्ञ है।
क्यों क्रिया प्रत्यय भर रह गई,
पता नहीं।

□

गाँव एक गंध का नाम है

सुरेश विमल

गाँव
नाम है
महुए के महकते हुए
पेड़ का...

बबूल पर
फिसलती हुई चाँदनी
और रेत में झरते हुए
नीम के बौर का
नाम है गाँव...

गाँव —
नाम है उस गंध का
जो ताज़ा लिपे आँगन के
आकाश में विहरती है
बौराई सी...

गाँव —
उस गौरैया का नाम है
जो सुबह से शाम तक
तलाशती है चुग्गा
खेत-दर-खेत...

गाँव —
नाम है उस औरत का
जो माथे पर घास का गट्ठर

और गोद में शिशु को उठाए
रौंदती हुई चलती है
नंगे पाँव कंटीली पगडंडियां...

गाँव —
उस बालक का नाम है
जो खट्टे बेरों को
दाढ़ों के बीच दबाए
मुस्कराता है डबडबाई आँखों से...

गाँव —
नाम है जौ-ज्वार की
उन सूखी रोटियों के
स्वाद का
खेत की मेड़ पर
चबाता है जिनको
कच्चे प्याज के संग किसान...

गाँव —
बिटौरों पर उत्कीर्ण
हाथी, कमल और चिड़िया के
अनगढ़ चित्रों का नाम है...

छप्पर से झूलती हुई
कच्ची लौकी
और मकई के
दूधिया दानों का नाम है गाँव...

गाँव —
नाम है उस गीत का
पानी की सारंगी पर
अलापता है जिसे रहंट का जोगी...

खिलखिलाती हुई
सरसों की फुनगियों
पोखर में सरसराती
नन्हीं-नन्हीं मछलियों के बिंबों
और मोरों के
थिरकते हुए
इंद्रधनुषी पंखों का नाम है
गाँव... □

रचनात्मक साहित्य और मिथक

डॉ. एल. बी. 'राम अनंत'

मिथक का स्वरूप

'मिथ' एक ऐसा संसार है जिसके आयामों का पता लगाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका देश उसी प्रकार विस्तृत और व्यापक है जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड का, जिसके नक्षत्रों, ग्रहों नीहारिकाओं के आयामों का प्रत्यक्ष आज तक नहीं हो सका है। इसका काल-विस्तार भी अद्‌भुत है। जिस प्रकार इस ब्रह्मांड के नक्षत्र-ग्रहों की गति का दूसरा नाम काल है उसी प्रकार मिथ-संसार की गतिशीलता ही उसका काल है। कहने का तात्पर्य यह है कि मिथ के काल की धारणा मिथ की गति के आधार पर बनती है, किसी अन्य तथ्य की सापेक्षता में नहीं—इसमें भूत, वर्तमान एवं भविष्य क्रमिक न होकर युगपत रूप में रहते हैं। इस संसार के स्वरूप को स्पष्ट रूप में ग्राह्य बनाने के लिए संसार के विद्वानों ने इसको विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा है तथा इसका विश्लेषण और संश्लेषण किया है।यहाँ उनके द्वारा प्रत्यक्ष कराये गये स्वरूप की एक झांकी को देख लेना रूचिकर होगा।

भारतीय दृष्टिकोण

मिथ के संसार को देखने का प्राचीनतम प्रयास भारतीय विद्वानों का है। इसका कारण यह था कि भारतीय विद्वान् अत्यतं प्राचीन काल में ''अर्थ-विज्ञान'' की नींव डालने में सफल हो गए थे। ''निघण्टु'' संसार का प्रथम शब्द-कोश है जिसमें अर्थ को आधार बनाकर शब्दों का वर्गीकरण किया गया है। यास्क मुनि तथा अन्य निरूक्तकार औदुम्बरायण, वार्ष्यायण, गार्ग्य आदि शब्दों की व्युत्पत्ति करते समय ''मिथक'' के अर्थ की समस्या से बहुत अच्छी प्रकार उलझ चुके थे। यास्क का समय सामान्य रूप से ७०० ई० पू० माना जाता है। इनके पूर्व ही वेद और उसके मिथक पर प्रबल प्रहार होने लगे थे। डॉ. लक्ष्मण स्वरूप ने यह ठीक ही निर्देश किया है कि संहिताकाल में ही वेदों और उसके मिथकों का विरोध होने लगा था। उन्होंने बताया है कि अथर्ववेद को प्रामाणिक मनवाने का प्रयत्न करनेवाले विद्‌वानों ने ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद पर आपत्ति की थी।

इससे एक बात स्पष्ट होती है कि मिथक द्वारा मिथक का विरोध होता है। अथर्ववेद में मिथक का अभाव नहीं है, किंतु इसके समर्थकों द्वारा मिथक समन्वित अन्य वेदों का विरोध हुआ। यही नहीं, उपनिषदों, बौद्धों, जैनों, महाकाव्यों तथा पुराणों ने भी वैदिक कर्म-काण्ड का खुलकर विरोध किया,

यद्यपि ये भी अपने को कर्म-काण्ड से दूर न रख सके। कर्म-काण्ड (रिचुअल) और मिथक का अत्यंत गहरा संबंध है। यहाँ मिथक के विरोध का इतिहास देना लक्ष्य नहीं है। अपितु केवल इतना संकेत करना है कि किसी मिथक का विरोध इस दृष्टि से होता रहा है कि उसको हटाकर उसके स्थान पर किसी अन्य मिथक की स्थापना कर ली जाये। इस दृष्टिकोण का प्रभाव यह पड़ता है कि मिथक की आलोचना-प्रत्यालोचना का मार्ग प्रशस्त हो जाता है—एक पक्ष उसको प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है तथा दूसरा उसको उखाड़ कर उसके स्थान पर किसी अन्य मिथक को रोपना चाहता है। भारतीय मिथक-जगत में यह प्रक्रिया सतत कार्यशील दिखाई पड़ती है।

यास्क मुनि के पूर्व ही मिथक के मूल-बिम्बों (आर्की टाइप) को ढूंढ़ निकालने की प्रवृत्ति आरंभ हो गई थी, जिसका परिणाम यह हुआ था कि कुछ विद्वान् कर्म-काण्ड तथा मिथक दोनों को असत्य या अर्थहीन समझने लगे थे। यास्क मुनि ने इस संबंध में कौत्स के मत को उद्घृत किया है तथा उसे खण्डित करके अपने मत को स्थापित किया है। यास्क मुनि ने कहा था कि निरूक्त के अभाव में वेदों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो सकता, इसी पर शंका करते हुए कौत्स मुनि ने कहा था—

''यदि मन्त्रार्थ प्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सः । अनर्थका हि मन्त्राः ।'' (यदि मन्त्रों के अर्थ की प्रतीति कराना निरूक्त का उद्देश्य है तो यह व्यर्थ है: क्योंकि मन्त्र अर्थात् वेद अर्थहीन होते हैं।)

वेदों की अर्थहीनता को प्रमाणित करने के लिए कौत्स ने जो तर्क दिये हैं उनमें मिथकों की अर्थहीनता का भी संकेत है। वे कहते हैं कि यह कहा गया है कि ''ओषधेत्रायस्वैनमू'', ''एक एव रूद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः ।'' ''असंख्याता सहस्राणि ये रूद्रा अधिभ्याम्,'' अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषो,'' ''शत सेना अजयत सार्क इंद्रः'' अर्थात् ''हे औषधि इसकी रक्षा करो।'' ''रूद्र एक ही है, दो नहीं।'' ''इसी पृथ्वी पर असंख्य सहस्र रूद्र हैं, ''इंद्र शत्रुहीन उत्पन्न हुए।'' ''युद्ध में इंद्र ने सौ सेनाओं को जीता।'' ये कथन सार्थक कैसे माने जा सकते हैं? क्या किसी ''औषधि'' को रक्षा करने के लिए संबोधित करना तर्कसंगत है? क्या एक ओर यह कहना कि रूद्र एक ही है तथा फिर यह कह देना कि रूद्र असंख्य सहस्र हैं, वदतो व्याघांत नहीं हैं। क्या यह हास्यास्पद नहीं कि एक ओर यह कहा जाये कि इंद्र शत्रुहीन ही पैदा हुए, किंतु उन्होनें सैकड़ों सेनाओं को जीता भी, शत्रु के अभाव में सेनाओं को जीतने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

पांचवी शती ईस्वी पूर्व में वर्तमान गौतम बुद्ध ने भी ऐसे ही तर्कों के आधार पर वेदों का विरोध किया था। दीर्घ निकाय के 'तेविज्ज सुत्त' में सत्य वासेत्थ तथा भारद्वाज सत्य के स्वरूप का निर्धारण करने के लिए आपस में विवाद करते हुए उनके पास पहुँचते हैं। गौतम बुद्ध उनका समाधान निम्न रूप में करते हैं :—

''वासेत्थ, यदि यह अचिरवती नदी जल से पूर्णतया भरी हो, और किनारों पर भी पानी आ रहा हो, और एक व्यक्ति जिसका दूसरे किनारे पर कुछ कार्य है, तथा उसे उस किनारे जाना है, तो क्या उसे जाना चाहिए और पार करने की इच्छा करनी चाहिए, और इस किनारे खड़े होकर दूसरे किनारे से प्रार्थना करनी चाहिए और कहना चाहिए—''इधर आओ, हे दूर स्थित तट, इस ओर को आओ।''

''अब तुम क्या सोचते हो, वासेत्थ। क्या उस व्यक्ति के आह्वान करने से, प्रार्थना करने से, आशा करने से तथा प्रशंसा करने से अचिरवती नदी का वह दूर स्थित तट इस ओर आ जायेगा?''

''नहीं, गौतम, निश्चित रूप से नहीं।''

"क्या इसी रूप में, वासेत्थ, तीनों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण नहीं कहते—"इंद्र, हम आह्वान करते हैं, सोम, हम आह्वान करते हैं, वरुण, हम आह्वान करते हैं, ईशान, हम आह्वान करते हैं, प्रजापति, हम आह्वान करते हैं, ब्रह्मा हम आह्वान करते हैं...। वस्तुत: वासेत्थ, वे आह्वान करने से प्रार्थना करने से, आशा करने से और प्रशंसा करने से, मृत्यु के पश्चात्... ब्रह्मा से संयुक्त हो जायेंगे? वास्तव में ऐसा कभी हो नहीं सकता।"

उपयोगितावादी दृष्टि से मिथक पर किया गया यह आक्षेप यह सिद्ध करता है कि मिथक में उपयोगिता की दृष्टि से दुर्बलतायें वर्तमान रहती हैं और उसके प्रत्यक्ष होने पर उनके समर्थकों पर कठोर आक्षेप आरंभ हो जाता है। चार्वाक संप्रदाय के मूल आचार्य वृहस्पति ने अपने आक्षेप को अत्यंत कटु बनाते हुए यहां तक कह डाला है :—

त्रयो वेदस्य कतारो भण्ड धूर्त निशाचरा: ।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वच: स्मृतम् ।।

(तीनों वेदों के कर्ता माण, धूर्त, एवं निशाचर हैं। वस्तुत: जर्फरी-तुर्फरी जैसे निरर्थक कथनों को पंडितों की वाणी कहा गया है)।

ऐसे आक्षेप अनावश्यक रूप से कटु तथा अन्यायपूर्ण हैं। मिथक का विरोध करते-करते मिथक के समर्थकों पर इतना कड़ा प्रहार कर बैठना न्याय-संगत नहीं, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि अति की प्रतिक्रिया भी मनुष्य को दूसरे अति तक पहुँचा देती है।

भारत में मिथक के समर्थक विद्वानों ने उनके मूल बिंब को ही ग्रहण करने की राय दी। निरूक्तकारों ने मिथकों के मूल बिंब के रूप में प्राकृतिक एवं जीवन के यथार्थ को स्वीकार करने की सलाह दी। निरूक्त के सातवें काण्ड के आरंभ में यह प्रश्न उठाया गया है कि देवता कौन हैं तथा उनका स्वरूप क्या है? उनके उत्तर का एक आधार उनका परोक्ष, प्रत्यक्ष तथा आध्यात्मिक होना बताया गया है।

इन तीनों स्थितियों को ध्यान में रखकर विचार करने पर यह प्रश्न उठा कि ये देवता और मिथक पुरूष हैं, अपुरूष (प्राकृतिक सूर्य-अग्नि आदि) या दोनों के मिश्रण हैं। निरूक्त की मूल, और महत्व-पूर्ण धारणा यह है कि ये "आत्मा से उत्पन्न है।" (आत्मजन्मनि:) "आत्मा" सर्व देवस्य।" देवताओं का सबकुछ आत्मा ही है। अपनी श्रेष्ठता के कारण एक आत्मा रूप होने पर भी देवता बहुत प्रकार से स्तुति के विषय बनते हैं। —माहाभाग्यात् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।" यही नहीं, सत्वों की प्रकृति-भूमि को ध्यान में रखकर भी स्तुति की जाती है, ऐसा प्रकृति के "सार्वनाभ्य:" होने से होता है। इससे स्पष्ट है कि मिथक प्रकृति के आयाम से बाहर नहीं हो सकते क्योंकि संपूर्ण नाम (भाषा से बोधित ज्ञान) उसी पर आश्रित हैं। यही कारण था कि यास्क मुनि ने देवताओं के संपूर्ण व्यवहार को नरराष्ट्र के सदृश कह दिया—"तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव।" जहाँ तक देवताओं के आकार की बात है उसके संबंध में उनका कहना है कि वे पुरूष, प्राकृतिक तथ्य तथा इन दोनों के मिश्रण के रूप में भी हैं।

मिथक के प्रति यह भारतीय दृष्टिकोण यहां सतत स्वीकृत रहा, यही कारण था कि दर्शन के आचार्यों, कवियों तथा अन्य विद्वानों ने भी मिथक की व्याख्या करते हुए उसको युगानुरूप बनाने का सदा प्रयत्न किया, किंतु यह सत्य है कि पाश्चात्य विद्वानों के सदृश मिथक को स्वतंत्र शास्त्रीय विषय न बनाया जा सका।

पाश्चात्य दृष्टिकोण

पश्चिम में सन् १८२५ ई० में कार्ल ऑटफ्राइड मूलर ने मिथक का अध्ययन आरंभ किया। इनके पूर्व ग्रीक-विद्वानों ने भी मिथकों के संबंध में विचार करना आरंभ कर दिया था। माइलेसियन दार्शनिकों ने होमर के मिथक को गल्प या कल्पना कहकर उपेक्षा का विषय बनाया था। जेनोफॉन ने भी देवताओं के चरित्र को मानव-चरित्र से भी निम्न देखकर मिथकों को आपत्तिजनक कहा था। धारणा यह कार्य कर रही थी कि दैवी पवित्रता को आदिम रूपों (एन्थ्रो मॉरफिक) से पृथक् रखा जाय; किंतु कवियों के कारण ऐसा नहीं हो पा रहा था। ग्रीक दार्शनिक यह मानते थे कि मिथकों की रचना कवि करते हैं और इनमें आदिमरूपों की प्रतिष्ठा होती है जो नैतिक दृष्टि से राज्य या देश के हित के अनूकूल नहीं होते। भारत में भी कवियों ने ही मिथकों की रचना की और यहाँ की संस्कृति का निर्माण भी इन्हीं के द्वारा हुआ। श्री कुहनन राजा ने यह स्थापना बलपूर्वक और तर्क सहित की है कि वैदिक साहित्य काव्य है तथा ऋषि कवि मात्र। महाकाव्य, पुराण तथा अन्य साहित्य से ही यहाँ की संस्कृति बनी है, यही कारण है कि यहाँ बाइबिल या कुरान की तरह कोई एक ग्रंथ धर्म-ग्रंथ का रूप नहीं ले सका। यहाँ कवि ऋषि या मुनि रहे, उनका विरोध करने का साहस थोड़े से लोग कर सके, अधिकांश कवि और विद्वान् उन्हें नतमस्तक होकर आदर ही देते रहे। ग्रीक-विद्वान् कवियों के प्रति ऐसी श्रद्धा नहीं रख सके, यही कारण था कि प्लेटो ने कहा था—"कविता व्यक्ति के लिए भ्रमोत्पादक तथा राज्य के लिए विनाशक है।"

ग्रीक में 'माइथॉस' शब्द का प्रयोग गल्प, कथा वार्ता एवं भाषण के अर्थ में हुआ था तथा इसका विलोम तत्त्व चिंतन (लॉगॉस) और इतिहास था। कालांतर में इसका अर्थ यह हुआ कि "माइथॉस वह है जिसका सच्चा अस्तित्व हो नहीं सकता।" जिस समय ऑटफ्राइड महोदय ने मिथक पर विचार करना आरंभ किया उस समय आधुनिक योरोपीय आर्य भाषाओं में इसका अर्थ 'जो सत्य के विपरीत हो' था—'एनी थिंग दैट् वाज़् ऑपोज़्ड टू रियालिटी'। सर्वप्रथम अलेक्जेंड्रिया के उपदेशकों ने मिथक में इतिहास देखने का प्रयत्न किया और ईसाई धर्मोपदेशकों ने उन्हीं का सहारा लेकर बाइबिल में इतिहास को ढूंढ़ निकाला। इसका परिणाम यह हुआ कि बाइबिल के मिथकों को सत्य और तथ्य मानने का आग्रह समाप्त हुआ और उनमें छिपे अर्थ(हिडिन मीनिंग) को देखने का प्रयत्न होने लगा। थीजींस र्‌हेजियम ने ई० पू० पांचवी शती में यह बात कही थी कि होमर-काव्य में देवता मानवी गुणों के प्रतिनिधि हैं अथवा प्राकृतिक तथ्यों के। क्रियस ने होमर के मिथकों को भौतिक या नैतिक नियमों के रूप में देखा था। तीसरी शती ईस्वी पूर्व में यूहेमरस ने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया कि "देवता राजाओं के उदात्तीकृत रूप हैं।" इस प्रकार मिथक तथ्य बन गया और इसे आदिम राजाओं की गतिविधियों का काल्पनिक प्रतिरूप या दिग्भ्रमित स्मृतियों के रूप में देखा जाने लगा।

अभी तक मिथक को एक विचार का विषय मानकर उसके स्वरूप को समझने का ही प्रयास हो रहा था, किंतु उन्नीसवीं शती में इसके उद्‌भव पर गंभीर विचार आरंभ हुआ। सर्वप्रथम मैक्समूलर महोदय ने संस्कृत तथा अन्य योरोपीय भाषाओं की तुलना के आधार पर यह मत रखा कि मिथक भाषा-विकार (डिज़ीज़ ऑफ़ लैंगुएज) की देन हैं। एकार्थ और अनेकार्थवाचक शब्दों, लिंग-बोधक प्रत्ययों, मानवी-करण की प्रवृत्ति तथा भाषा-यात्रा से उत्पन्न अस्पष्टता के कारण जो मिथक युग अस्तित्व में आता है उसी में ये मिथक बन जाते हैं। ऐन्ड्र लैंग महोदय ने प्रबल तर्क देते हुए उनके मत का खण्डन किया और कहा कि मिथक-युग की धारणा निराधार है और भाषा-विकृति के आधार पर मिथक के उद्‌भव को नहीं समझाया जा सकता। वस्तुतः यह एक विशेष मनोदशा की देन है जो समाज की चेतनारोपवादी सांस्कृतिक-स्तर पर दिखाई पड़ती है। इस स्तर पर मनुष्य जड़-चेतन सभी में चेतना का आरोप कर

लेता है और इस रूप में इनकी गति-विधियों का वर्णन जब वह करता है तब मिथक अस्तित्व में आ जाते हैं।

यहां तक पहुँचते-पहुँचते मिथक संबंधी प्रभूत साहित्य प्रकाश में आ गया जिसका अध्ययन जेम्स जार्ज फ्रेजर, जे० हरिसन तथा गिलबर्ट मेरे जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों ने किया। इन्हें ऐसा ज्ञात हुआ कि धर्म-कृत्य (रिचुअल) तथा जादू की भावना ही मिथक के मूल में है। फ्रेजर ने ''सदृश-सदृश को उत्पन्न करता है।'' ''जो वस्तु किसी वस्तु से संबंधित रहती है, दूर रहने पर भी संबंध बनाये रखती है।'' जैसी धारणाओं को मूल में मानकर जादू की व्याख्या तथा मिथक को उपज-संप्रदाय (फरटिलिटी कल्ट) पर आधृत बताया। उनकी दृष्टि में राजाओं एवं पुरोहितों का बलिदान उपज-शक्ति को प्राप्त करने के लिए किया जाता था, यह उपज-शक्ति मनुष्य, पशु-पक्षी तथा फसलों को भी उत्पन्न करने की क्षमता प्रदान कर देती थी। उनकी पुस्तक ''गोल्डन बाउ'' की केंद्रीय स्थापना यही रही कि मिथक उपज-संप्रदाय की ही देन हैं, इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने संसार के प्रमुख मिथकों की व्याख्या कर डाली।

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्याख्यायें बहुत कुछ अध्येता की उद्‌भावना शक्ति और बौद्धिक क्षमता पर आधारित हैं। एक व्यक्ति जिस मिथक की व्याख्या एक दृष्टिकोण से करता है, आवश्यक नहीं कि दूसरा व्यक्ति भी उसी दृष्टिकोण से व्याख्या करे। फ्रेजर महोदय ने उपज-संप्रदाय के आधार पर जो व्याख्यायें प्रस्तुत कीं उनको वैज्ञानिक सिद्ध करने का कोई ठोस आधार प्रस्तुत करना संभव नहीं। कहना कठिन है कि ''गोल्डन बाउ'' में डायना की जो कथा दी गई है उसकी व्याख्या में जो कारण दिये गए हैं वे ही सत्य हैं? वस्तुतः अन्य कारण भी उसके हो सकते हैं जिनका पता लगाना कठिन माना जा सकता है। एच. एस. हूक तथा उनके दल के अध्येताओं ने मिथकों के प्रारूप (पैटर्न) की चर्चा जोरों से चलाई और कहा कि धर्म-कृत्य और मिथक एक दूसरे पर आधारित हैं तथा साम्य के आधार पर मिथक के प्ररूपों का निर्धारण हो सकता है। एच. फ्रैंकफोर्ट ने कहा कि प्रारूप का निर्धारण जिन साम्यों के आधार पर किया जाता है वे बहुत थोड़े होते हैं, और अधिक संख्या में होने पर भी, उनमें वर्तमान वैषम्यों की उपेक्षा की जाती है, अतः मिथक के प्रारूप की बात उठाना ठीक नहीं।

इन चर्चाओं के साथ ही दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान तथा साहित्य के भी मिथक पर गंभीरता से विचार होने लगा। कारण यह था कि प्रत्येक देश में मिथकों का प्रचलन था और उनसे मनुष्य इतने प्रभावित थे कि उनका उपयोग आर्थिक-राजनीतिक उद्‌देश्यों की पूर्ति के लिए हो सकता था। मार्क्सवाद तथा पूंजीवाद या व्यक्तिवाद के समर्थक विचारकों ने अपने-अपने मंतव्यों को दृष्टि में रखकर इनकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया। मार्क्सवाद विचारकों ने मिथक को आर्थिक उत्पादन वितरण से उद्‌भूत होनेवाला सामजिक स्थिति का प्रतिफलन बताया तथा व्यक्तिवादी विचारकों ने इसे शुद्ध मानसी उपज सिद्ध करना चाहा। यहां पहले व्यक्तिवादी विचारकों के मंतव्यों को प्रस्तुत कर मार्क्सवादी विचारों को रखा जा रहा हैं, क्योंकि व्यक्तिवादी विचारकों ने ही इस पर अधिक कार्य किया है।

व्यक्तिवादी विचारकों की दृष्टि में मिथक

मिथक के उद्‌भव का विचार करते समय ऐन्ड्रूलौंग महोदय ने यह कहा था कि ये एक विशेष सांस्कृतिक स्तर पर उत्पन्न होनेवाली मनोदशा की उपज है। दर्शन के क्षेत्र में ''ज्ञान के सिद्धांत'' (थ्योरी ऑफ नॉलेज) पर विचार करनेवाले विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर गया कि प्रतीक

(सिम्बॉल) किस प्रकार अस्तित्व में आते हैं। मिथक एक प्रकार के प्रतीक ही माने जाने लगे थे, अतः प्रतीक-रचना संबंधी निष्कर्षों ने मिथक की रचना-प्रक्रिया को समझने में भी सहायता दी। अठारहवीं शती के आरंभ में विशेष विशप जार्ज बर्कले महोदय ने व्यक्तिवादी सिद्धांतों की नींव डाली और उसी पर आज तक इसका विशाल भवन खड़ा है। सन् १७१० ई० में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "ट्रीटाइज कन्सर्निंग दी प्रिन्सिपुल्स ऑफ ह्यूमन नॉलेज" प्रकाशित हुई। इसमें इन्होंने निम्न प्रमुख विचार प्रस्तुत किये :—

१. वर्कले अपने "ज्ञान के सिद्धांत" का आधार रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द को बनाते हैं, जो केवल मानस द्वारा "संकलित ज्ञान" हैं, किसी बाह्य पदार्थ की छाप नहीं।

२. वे यह मानते हैं कि ज्ञान या ज्ञात तथ्यों के अतिरिक्त एक दूसरे सत्य की भी सत्ता है और वह है "मानस, जीव, आत्मा या स्वयं। ये निर्णय देते हैं कि द्रष्टा-मानस से बाहर ज्ञान का अस्तित्व नहीं हो सकता।"

वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि पदार्थ और संवेदन एक ही है अतः एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता— "इन ट्रुथ ऑब्जेक्ट एण्ड सेन्सेशन आर दि सेम थिंग एण्ड कैन्नाट बी एब्स्ट्रैक्टेड फ्राम ईच अँदर।" वस्तुतः वे भौतिकतावादियों के इस सिद्धांत का विरोध कर रहे थे कि "मानस के बाहर या उसके बिना भी ज्ञातव्य पदार्थों की अपने में निरपेक्ष सत्ता है" वे पदार्थ के लिए शून्य का प्रयोग उचित मानते थे और कहते थे कि जिस अर्थ में लोग "शून्यता" प्रयोग करते हैं उसी अर्थ में भौतिकवादियों को 'पदार्थ' का प्रयोग करना चाहिए—'इट शेल सीम गुड, यूज द वर्ड मैटर् इन द सेम सेन्स एज अँदर मेन यूज नथिंग।"

इसी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के आधार पर वर्कले प्रतीक को संवेदन या ज्ञान से अभिन्न मान लेते हैं। उनकी दृष्टि में बाह्य पदार्थ को संवेदन का कारण मानना तथा संवेदन को कार्य समझना व्यर्थता (एब्सर्डिटी) मात्र हैं; क्योंकि उनके मतानुसार ज्ञान की संबद्धता में कारण-कार्य संबंध की स्थिति नहीं है।; बल्कि ये ज्ञातव्य वस्तु के संकेतक या प्रतीक मात्र हैं— "कनेक्शन ऑफ़ आइडियाज़ डज़ नॉट इम्प्लाइ द रिलेशन ऑफ़ कॉज़ एण्ड एफेक्ट बट् ऑन्ली द मार्क ऑर साइन विद् द थिंग सिग्नीफाइड।"

वर्कले ने स्पष्ट कहा है कि यह बात साफ़ है कि हम और भौतिकतावादी दोनों ही किसी बाहरी सत्ता से प्रभावित होने की बात स्वीकार करते हैं; किंतु अंतर यह है कि मैं इसे महाचिति (स्पिरिट) मानता हूँ और भौतिकतावादी पदार्थ।

मिथक के संबंध में आगे जो व्यक्तिवादी व्याख्यायें मनोविज्ञान या साहित्यालोचन के क्षेत्र में प्रस्तुत की गई उनका मूलाधार दर्शन नहीं है। कॉन्ट, हीमेल, ह्यूम, कान्डिलैक, एलम्बर्ट तथा अर्न्स्ट कैसिरर इसी विचारधारा को, कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत करते हुए, स्वीकार करते हैं। इन लोगों ने पदार्थ की सत्ता को बाहर मानने का विरोध नहीं किया किंतु यह अवश्य कहा कि वह ज्ञातव्य नहीं है।

अर्न्स्ट कैसिरर महोदय ने विज्ञान की चर्चा करते हुए यह कहा है कि "प्रज्ञान का दर्शन" अब एक नये दौर में पहुंच गया है और यह अपने में स्वतंत्र है। उन्होंने न्यूटन के मार्ग को स्वीकार करने की राय दी है और यह कहा है कि अनुभव और परीक्षण के आधार पर ही हमें सार्वभौम व्यवस्था और नियमों की स्थापना करनी चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि कैसिरर न्यूटन को व्यक्तिवादियों में ही स्थान देते हैं और कहते हैं कि वे ज्ञान और तथ्य में अंतर नहीं करते— "दिस् डज नॉट मीन दैट् न्यूटन एण्ड हिज़् डिसाइपिल्स एण्ड हिज़् फॉलोअर्स सॉ ए क्लीवेज़ बिट्वीन एक्सपीरिएन्स एण्ड थिंकिंग, दैट् इज़् द रेल्म् ऑफ़ बेयर फैक्ट एण्ड दैट् ऑफ प्योर थॉट्।" उनका कहना है कि आज का

प्रज्ञान-दर्शन पद्धति प्रस्थापन की प्रवृत्ति (स्प्रिट् ऑफ सिस्टम्) से अपने को मुक्त कर चुका है तथा ''तथ्य के तर्क'' (लॉजिक ऑफ फैक्ट्स) को स्वीकार कर चुका है। इसमें विश्लेषण की प्रवृत्ति महत्वपूर्ण होती है। इन्होंने बौद्धिकता (रीज़न) की व्याख्या करते हुए वर्कले और ह्यूम के विषय में यह कहा है कि दोनों में ''संवेदन'' (सेंसेशन) और विमर्श (रिफ्लेक्शन) को ज्ञान (परसेप्शन) में मिलाकर यह सिद्ध कर दिया है कि अंतर-बाह्य सारा ज्ञान यही है। लॉक ने मनोविज्ञानिक तथ्यों तक इसे बढ़ाया, किंतु उनका विश्लेषण कर के ही छोड़ दिया। कॉडिलैक ने वस्तुतः इस कार्य को पूर्णता पर पहुँचाया और मनोविज्ञानिक तथ्यों के विश्लेषण तक अपने को सीमित न कर उनके मूल को खोजने की बात प्रस्तुत की। लॉक ने सारे संवेदनों रूप, रस, गंध आदि को मूल और अखण्ड मानकर उन्हें स्वतंत्र अस्तित्व दे दिया था और उन्हें किसी अन्य मूल तक नहीं पहुँचाया था। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि विश्लेषण का कोई फल ही नहीं निकल सका था। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक तथ्यों की विशिष्टताएँ केवल स्वप्निल (इल्यूज़न) होती हैं और वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर टिक नहीं पातीं। कॉण्डिलैक ने ''ट्रीटाइज ऑन सेन्सेशन'' में यह बताया कि इनके सच्चे रूप को जानने के लिए मानस की विशिष्ट क्रियाओं के मूल का पता लगाने की दृष्टि से देखना चाहिए, जो विश्लेषण करने पर मूल नहीं प्रमाणित होतीं, अपितु कहीं से ली हुई एवं माध्यम मात्र होती हैं, अर्थात् यह देखना चाहिए कि मानस सरल संवेदन का विश्लेषण, संश्लेषण आदि की क्षमता कैसे प्राप्त करता है। वस्तुतः इस मूल का पता लगाने पर ही हम संवेदन और मानस दोनों के सत्यों से आगे बढ़कर ''सिद्धांतों के नियम'' का तीसरा सत्य प्राप्त करते हैं। वस्तुतः मानस और संवेदन एक ही तत्त्व हैं और इन्हीं के आधार पर समाज और राज्य के प्रारूप में वर्तमान तीसरे सत्य ''सिद्धांतों के नियम'' तक पहुँचते हैं। तात्पर्य यह कि दोनों के आधार पर ही सार्वभौम (यूनिवर्सल) का प्रत्यक्ष होता है।

लाइब्निज़ ने 'मोनड' को तत्त्व मानकर असीम और ससीम तथा स्थिर एवं गत्यात्मक को एक कर दिया। उनका कथन था कि मानस के अंग विशिष्ट तत्त्व नहीं, अपितु असीम है। लाइबनीज़ के अनुसार प्रत्येक 'मोनड' शक्ति का जीवित केंद्र है, यह ससीम है तथा इनका वैभिन्नय ही जगत की इकाई बनाता है।

यही वह दार्शनिक मत है कि समालोचना शास्त्र में मिथक के प्रयोग के लिए सैद्धांतिक आधार बनता है। इसी आधार पर प्रतिष्ठित मनोविज्ञान के क्षेत्र में मिथक की स्थिति को देख सकते हैं।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में मिथक

मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड और युंग की देन ही मिथक के संबंध में महत्वपूर्ण है। फ्रायड ने मिथक की चर्चा अपेक्षाकृत कम की, किंतु ऑइडिपस काम्पलेक्स की व्याख्या एक मिथक को ध्यान में रखकर ही की गई। वस्तु सत्य यह है कि फ्रायड एक यहूदी विद्वान् हैं तथा इनका दृष्टिकोण भी अपने जातीय संस्कारों से बना है। व्यक्ति में सारी समस्याओं का मूल देखते हैं। इन्होंने प्रतीकों की व्याख्या के आधार पर मानसिक रूग्णता के मूल का पता लगाने का सिद्धांत प्रस्तुत किया। स्वप्नों को दमित सेक्स की आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में देखकर उन्होंने उसे प्रतीकात्मक मानकर यह बताया कि सर्प, बिल, घोड़ा, गाय आदि पुरूष और नारी केगूह्यांगों के प्रतीक हैं तथा प्रेमी-प्रेमिकाओं के। उन्होंने यह मान लिया था कि मानस के आनंद का मूलाधार सेक्स का जागरण और उसकी क्रियाशीलता है।इसी सिद्धांत के कारण उन्होंने बच्चे के दूध पीने में भी सेक्स की परितृप्ति देखी: यही नहीं, उन्होंने मानस-जीवन को बचपन, किशोर और युवा अवस्था में विभाजित करके यह दिखलाया कि इन तीनों अवस्थाओं में जिन शारीरिक या मानसिक क्रियाओं—दूध पीना, लज्जा-नमित हो भूमि कुरेदना, तथा प्रेम-व्यापार आदि से मनुष्य को जो आनंद प्राप्त होता है वह सेक्स की देन है।

फ्रायड का सिद्धांत प्रतीकों की व्याख्या तक लोगों को ले गया तथा काव्य को दिवा-स्वप्न (डे ड्रीमिंग) मानकर उसकी भी व्याख्या होने लगी, किंतु युंग का प्रभाव मिथक के संबंध में बहुत अधिक पड़ा। उन्होंने प्रतीकों के निर्माण को स्पष्ट करते हुए मानसिक स्थितियों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। उन्होंने अर्द्ध विक्षिप्तों (दुनेन्तिय प्रैकॉक्स) का इलाज करते समय देखा कि वे दो विचारों में अंतर स्थापित नहीं कर पाते; वे काव्यगत उस दुर्बलता से भी आगे निकल जाते हैं जिसमें दिवा-स्वप्न को सत्य स्वीकार किये जाने की आशा की जाती है; वे अपने व्यक्तित्व तथा अपनी आरोपित दशा में अंतर नहीं देख पाते तथा अस्पष्ट सादृश्य में महत्वपूर्ण एवं अमहत्वपूर्ण को उलझा देते हैं। ऐसी स्थितियों में यह पाया गया कि मस्तिष्क की नियन्त्रक शक्ति क्षीण हो गयी है और अहं (इगो) संश्लेषण की क्षमता से रहित हो गया है। प्रयोग से यह देखने में आया कि स्वस्थ व्यक्ति भी ध्यान की दुर्बलता में वैसे ही वाक्यों का प्रयोग कर बैठते हैं जैसे वाक्यों का अर्द्ध विक्षिप्त। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्होंने प्रतीक के संबंध में फ्रेंच लेखक-पेल्लेसियर के इस मत का समर्थन किया कि "प्रतीक को चिन्तन के बहुत निम्न स्तर की देन समझना चाहिए, यह पहचान (डिस्क्रिमिनेशन) की शक्ति की दुर्बलता को व्यक्त करता है क्योंकि यह स्वरूपत: ज्ञातव्यों के संबंध का झूठा ज्ञान है अथवा उन दो पदार्थों के पहचाने सादृश्य का ज्ञान है जिनमें वस्तुत: बहुत अस्पष्ट सादृश्य ही होता है।

अपनी परवर्ती रचना (साइकोलॉजी ऑफ अनकॉन्शस) में युंग ने प्रतीक के संबंध में अपने इन विचारों को बदल दिया। एविस एम. ड्राइ महोदय ने यह कहा है कि इस पुस्तक को कहाँ तक मौलिक कहा जाय और कहाँ तक आदत्त, विचारणीय है। प्रतीकवाद के संबंध में इनके निर्णय बहुत कुछ वही हैं जो बेकोफेन या नित्से के हैं। बेकोफेन ने कहा था—"प्रतीक संपर्क को जगाता है, वाणी केवल व्याख्या कर सकती है... प्रतीक ही अत्यधिक बिखरे और अव्यस्थित तत्वों को एक समन्वित प्रभाव में बदल देता है। शब्द असीम को ससीम बनाते हैं, प्रतीक मानस को प्रपंचमय संसार की सीमाओं से ऊपर उठाकर असीम सत्ता के राज्य में पहुँचा देता है।" नीत्से ने भी कहा था—"नींद तथा स्वप्न में हम आदिम मानव के पूर्ण जाति-परंपरा से होकर गुजरते हैं... ठीक वैसे ही जिस तरह आज हम स्वप्नों में सोचते हैं, मानव-जाति ने जाग्रतावस्था में भी हजारों वर्षों तक वैसे ही सोचा था।"

युंग ने "साइकॉलॉजी आफ अनकांसस" में दो प्रकार के विचारों की कल्पना की और उन्हें ही अपने प्रतीकवाद का आधार बनाया। प्रथम वे प्रेरित विचार (डारेक्टिड टाइप ऑफ थिंकिंग) मानते हैं जिसका उद्‌देश्य परिस्थितियों की अनुकूलता प्राप्त करना और दूसरों से व्यवहार करना आदि है। यह शब्दों में व्यक्त होता है, अनुभावों का स्थानापन्न बनता है, सतत् चेतन तल पर रहता है तथा प्रयत्न की अपेक्षा रखता है तथा द्वितीय अप्रेरित है जो परिस्थिति के साथ अनुकूलता की दृष्टि से पूर्णरूपेण अछूता है, इसमें बिंब, संबद्धता के कारण, भीड़-की-भीड़ एक दूसरे पर इकट्‌ठे हो जाते हैं, इसमें प्रयत्न तनिक भी नहीं होता, केवल व्यक्ति के अवचेतन-इच्छाओं के कारण ये अस्तित्व में आ जाते हैं।

इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने यह कहा कि एक अत्यंत असाधारण कार्य जो आज भी कठिनाई से संभव प्रतीत होता है, किया जाना चाहिए और वह है भावनात्मक विचारों की सुव्यवस्थित व्याख्या। इस संबंध में कम से कम इतना स्पष्ट है कि सोचने की पद्धति एक होने के कारण आदिम एवं प्राचीन मानवों के मिथक एवं आधुनिक मनुष्यों के स्वप्नों के अर्थों का स्पष्टीकरण एक-दूसरे की सहायता से हो सकता है।

इसी सिद्धांत के आधार पर उन्होंने मिस फ्रैंक मिलर की कविताओं की व्याख्या की तथा इस प्रकार

भावनात्मक विचारों की व्याख्या के लिए एक पद्धति प्रदान करने का प्रयत्न किया। उनकी व्याख्या विस्तृत और जटिल है अत: यहाँ उसकी रूपरेखा प्रस्तुत करना भी संभव नहीं है, हाँ उनकी पद्धति का पता न्यूमैन की दो पुस्तकों ''दि ओरिजिन्स एण्ड हिस्ट्री ऑफ कांशसनेस'' तथा ''ग्रेट मदर, माइथॉलॉजी ऑफ सोल'' को देखने से लग जाता है, जिनमें बातें अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ और स्पष्ट रूप में प्रस्तुत की गई हैं। इन्होंने मनुष्य द्वारा मिथक निर्माण की प्रक्रिया एवं व्यक्ति के मानस के विकास में एक व्यवस्था को दिखाने का प्रयत्न किया है, और ऐसा करते समय उन्होंने उन स्तरों को स्पष्ट रूप से पृथक् किया है जिनसे होकर ये दोनों गुजरे हैं।

इनका कथन है कि प्रथम स्तर गर्भस्थ व्यभिचार (युरॉबॉरिक इन्सेस्ट) का है, जिसमें व्यक्ति ''अवचेतन में लीन रहने में ही परितृप्त रहता है, उसमें वह ठीक उसी प्रकार अन्त: स्थित रहता है जैसे माँ के गर्भ में। दूसरा स्तर वह है जिसमें अहं-चेतन (इगो-कांशसनेस) विकास के लिए संघर्ष करता है तथा अपनी पूर्वावस्था के प्रति महत्वाकांक्षी हो जाता है, और दो बिंब निर्मित करता है— अदिति (गुड मदर) तथा दिति (बैड मदर) वह इनके विरोध में सफलतापूर्वक अपनी रक्षा नहीं कर पाता और मिथक के रूप में उनके द्वारा बधिया बनाया जाता है या मार डाला जाता है, जैसे अतिस और ओसिरिस के मिथक में। तीसरा स्तर जगत्-पितरों से पृथक् होना है और इसी के सदृश्य मानस में अवचेतन (अनकांशस) और चेतन (कांशस) का अलगाव भी है। चौथे स्तर पर पुन: पितर-देवत्व-चेतन (कांशस) का पुनर्बल लगाने का कार्य होता है जो दैत्य-दानवों से लड़ने के दौर के रूप में होता है, जिसकी व्याख्या ''भयंकर माँ'' के रूप में की गई है जो अवचेतन की सर्वग्रासिका पुंस्त्व संहारिका वृत्ति को व्यक्त करती है और केवल यौन-भाव के लिए ही खतरा नहीं बनती अपितु चेतन के उच्च पुंस्त्व के लिए भी खतरनाक बन जाती हैं। अंतिम स्तर कठिनाई से प्राप्त होने वाले वैभवादि की प्राप्ति है— मिथक में किसी कुमारी की मुक्ति जो नारी-तत्त्व की पृथकता का सूचक है और इससे बाहरी-तत्त्व एक मानवी रूप धारण करता है और व्यक्तिगत संबंध का द्वार खोल देता है। यही उनके सामूहिक अवचेतन की धारणा का संक्षिप्त रूप है।

युंग का यह ''सामूहिक अवचेतन'' का विचार भी आलोचना का विषय बना है। ध्यान देने की बात यह है कि ये जीव-विज्ञान के उस सिद्धांत को स्पष्ट रूप से अस्वीकार करते हैं जिसके अनुसार जैविक अनुभव एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रवाहित होते हैं... ''युंग एक्प्रेसली डिनाइज़ दैट् फार्म ऑफ थियरी विच इम्प्लाइज़ बायोलॉजिकल ट्रांस्मिशन ऑफ लाइफ एक्सपीरिएन्स फ्रॉम वन् जेनरेशन टू नेक्स्ट।'' अत: यहां सामूहिक अवचेतन के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रवाहित होने के सिद्धांत पर विचार करना आवश्यक नहीं रहता; किंतु इस संबंध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि अभी तक जीव-विज्ञान में कोई भी उत्तराधिकार का ऐसा ठोस आधार नहीं प्राप्त हो सका है जिसपर यह सिद्धांत प्रतिष्ठित किया जा सके कि एक पीढ़ी के अनुभवों का प्रवाह दूसरी पीढ़ी तक किसी रूप में प्रवाहित रहता है। जैविक-उत्तराधिकार का प्रश्न अभी बहुत स्पष्टतापूर्वक हल नहीं किया जा सका है। डॉ० खुराना तथा उसके सहयोगी तथा उनके पूर्ववर्ती विद्वानों ने जीवाणु (सेल्स) में उन केंद्रों और रेखाओं का पता लगाया है जो जैविक-उत्तराधिकार को नियंत्रित करते प्रतीत होते हैं, किंतु उनका विश्लेषण करने पर जो धूलि-सा पदार्थ अवशिष्ट मिला है वह ऐसा है कि उसे जड़ या चेतन कहना संभव नहीं। उसे जड़चेतन का समवाय कहा जा सकता है। जिस प्रकार पदार्थ और शक्ति एक-दूसरे के भिन्न रूप ही हैं उसी प्रकार जड़-चेतन भी एक-दूसरे के रूप ही कहे जा सकते हैं; किंतु यह नहीं भुला देना चाहिए कि जिस प्रकार एटम के भंग होने पर भी ऊर्जा या शक्ति पदार्थ ही रही— पदार्थ सूक्ष्मतम रूप में मानस पर प्रतिफलित हुआ, उसी प्रकार जीवाणु (सेल) का अंतिम रूप भी पदार्थ ही प्रमाणित हुआ

है जो परिस्थितियों के कारण चेतना का विकास कर लेता है। यह जीवाणुमत चेतन कहीं बाहर से अवतरित सत्ता नहीं है, अपितु अन्य जीवाणुओं की संबद्धता में विकसित जड़ का जैविक ऊर्जा से परिचलित व्यवहार-वृत्त (बिहैवियर-सर्किल) मात्र ही है। बौद्ध दर्शन के प्रतीत्य समुत्पाद में इस तथ्य को बहुत पहले प्रत्यक्ष कर लिया गया था, किंतु उसे पूर्ण वैज्ञानिक रूप में ग्रहण परवर्तीकाल में नहीं किया जा सका।

युंग ने ''सामूहिक अवचेतन'' को ''मानसिक क्रियाशीलता'' की सशक्त पद्धति (ऐंज् एपोटेन्शियल सिस्टम् ऑफ साइकिक फंक्शनिंग) के रूप में ग्रहण किया था। एम. ड्राइ महोदय ने इस पर आक्षेप करते हुए कहा कि भूख और सेक्स की सहज वृत्तियां भी इसके अंतर्गत आती है अत: कोई यह ख्याल कर सकता है कि सामूहिक अवचेतन के द्वारा इन समस्याओं का समाधान हो गया है जबकि वस्तुत: इन समस्याओं को उड़ा ही दिया गया है। दूसरी गड़बड़ यह है कि मानस के विकास के जो विभिन्न स्तर लक्षित किए गए हैं उनपर भी इससे लीपा-पोती हो जाती है। जैकोबी जैसे मनोविज्ञानवेत्ता ने कहा है कि मनुष्य को बालकपन से, जो अभी सामूहिक अवचेतन में बंदी रहता है, संघर्ष करके अहं की पृथकता और निश्चयात्मकता तक पहुँचना पड़ता है। शेरिफ ने कहा था मानव शिशु में जन्म के समय अहं का अभाव होता है—(दि इगो इज नॉट प्रेजेंट एट् बर्थ इन दि ह्यूमन चाइल्ड)।

विद्वानों की दृष्टि में युंग की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि वे छल-भाषा (ब्लैंकेट टर्म) का निर्माण करते हैं। इनका ''सामूहिक अवचेतन'' छल ही है, सत्य नहीं। इनके समर्थक कहते हैं कि यह छल नहीं है अपितु सुविधाजनक सूत्र है जो विशेषत: बार-बार नियमत: उठनेवाली धारणाओं को, जिन्हें युंग मूल बिंब (आर्की टाइप) कहते हैं, तथा उस विचार की पद्धति का भी बोध कराते हैं जिसके सबल उदाहरण ये मूल बिंब हैं। विद्वानों ने इस स्थिति को भी छल के रूप में ही स्वीकार किया है क्योंकि उनका विचार है कि युंग के शक्ति के संचयन (कंजरवेशन ऑफ इनर्जी) के सिद्धांत की जो तुलना आदिम आत्मा के विचार से की है जिनमें मूल बिंब ही कार्यशील रहते हैं, वस्तुत: छल का ही बोधक है, सत्य का नहीं। वस्तु सत्य यह है कि आदिम और वैज्ञानिक विचार में साम्य जितना महत्वपूर्ण है, कम से कम वैषम्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है। युंग ने इस सत्य की उपेक्षा की है। उन्होंने मिथक और प्रतीकों को, उन्हें जन्म देनेवाली संस्कृतियों के संदर्भ से उखाड़कर, निरपेक्ष रूप में व्याख्या का विषय बनाया है, यही नहीं, उनके द्वारा उन संस्कृतियों में वर्तमान परस्पर-संबद्धता और विकास प्रदान करनेवाले सांस्कृतिक तत्वों की भी उपेक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त युंग ने आदिम मानस और बच्चे के मानस को एक-सा मानने में भी बहुत से तत्वों की उपेक्षा कर डाली है। यह निश्चित है कि आज के वातावरण से प्रभावित आदिम अवस्था में रहने वाली जातियाँ भी उस मानस का परिचय नहीं दे सकतीं जो मिथक निर्माण करने वाली आदिम जातियों का रहा होगा। वैदिक और पौराणिक मिथकों जैसे मिथकों का निर्माण करने वाली कोई भी आदिम जाति आज नहीं दिखाई पड़ती। बच्चे के मानस का अध्ययन भी बहुत दूर तक आत्मपरक (सब्जेक्टिव) है। ऐसी स्थिति में बच्चे के मानस तथा आदिम जातियों के मानस को एकदम एक-सा मान लेना बहुत कुछ आत्मपरक (सब्जेक्टिव) निर्णय ही होगा, वैज्ञानिक तथ्य नहीं। डब्ल्यू. एच. आर. रिवर्स ने अपनी खोजों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि युंग जिन मूल विश्वासों को कुछ मिथकों के मूल बिंब (आर्की टाइप) के रूप में बताते हैं, उनका संकेत करनेवाले शब्दों का भी अभाव संसार की अनेक भाषाओं में है। इसके अतिरिक्त उनका विचार है कि मिथकों के बोध का श्रेय माता-पिता, धाइयां तथा अन्य संबंधियों द्वारा प्राप्त संवेदनों को दिया जा सकता है, उसके लिए सामूहिक अवचेतन को मानना आवश्यक नहीं। फ्रांसेस विकेस ने कहा है कि

ज्यों ही कोई मिथक प्रतीक तथा मूल बिंब की ठीक-ठाक परिभाषा देना चाहता है त्योंही उसे स्पष्ट हो जाता है कि ये बिंब अस्पष्ट (वेग) चल (शिफ्टिंग), तथा अनिश्चित हैं। कदाचित् ही कोई बिंब निर्धारित रूप को लिए उत्पन्न होता है और न ही कोई जीवन की किसी विशेष अवस्था से संबद्ध है। ये अवस्थायें सतत् परिवर्तनशील हैं, प्रत्यक्ष और अन्तर्धान होती हैं तथा चेतन की समस्याओं के अनुकूल नये रूपों में लौटती रहती हैं। ऐसी स्थिति में युंग की महत्वपूर्ण प्रतीत होनेवाली घोषणाओं का वैज्ञानिक मूल्य कितना रह जाता है, यह सुधी विद्वान स्वयं देख सकते हैं : वे कहते हैं—"मिथ्स् एण्ड सिम्बल्स ह्विच कैन एराइज् ऑथोस्थसली इन एव्री कार्नर ऑफ अर्थ ... आर नन द लेस आइडेन्टिकल जस्ट बिकाज् दे आर फेशन्ड आउट ऑफ सेम वर्ल्ड-वाइड ह्यूमन अनकांशस।" उनके कहने का तात्पर्य यह है कि मिथ्य और प्रतीक एक-से स्वत: प्रेरित (ऑथोस्थसली) संसार के हर कोने में उद्भूत हो सकते हैं, और वे भिन्न नहीं क्योंकि वे एक ही जगतव्यापी मानव-अवचेतन से रूप ग्रहण करते हैं।

मनुष्य के व्यक्तित्व की व्याख्या वे इसी "सामूहिक अवचेतन" के आधार पर करते हैं और यह विचार नहीं करने जाते कि मनुष्य के वर्तमान जीवन के अध्ययन, अनुभव एवं प्रभावादि उसे कहाँ तक निमिर्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक विद्वान् अपने को परियों से घिरा देखता है तो वे इस संभावना पर विचार भी नहीं करने जायेगा कि उसका मानस परियों की कथा पढ़ने या सुनने से भी स्वप्न में अपने को परियों से घिरा देख सकता है : वे सीधे ऐसे निष्कर्ष पर पहुंच जाते हैं : दैट् रिग्रेशन हैज़् गॉन, इवेन फर्दर् बैक टू एन एण्टी क्विटी दैट् इज़् आउट् क्वेश्चन..कॉन्टैक्ट विद् डिस्टैन्ट टाइम्स—दैट् इज़् विद् डीप् लेयर्स ऑफ द साइकी...हेज़् टेकन प्लेस। तात्पर्य कि उस विद्वान् के चेतन का प्रत्यावर्तन (रिग्रेसन) बहुत दूर-वर्तिनी प्राचीनता में हो गया है, इसमें संदेह नहीं... अतीत से संपर्क हो गया है अर्थात् मानस के गहरे तल से संपर्क स्थापित हो गया है।

मूल-बिंब के विषय में तो परस्पर विरोधी बातें भी कह दी गई है। आर. डब्ल्यू. हेपबर्न ने अपनी पुस्तक "पोयट्री एण्ड रिलीजस बिलीफ" में मूल बिंबात्मक आकृतियों (आर्कीटाइपल फिगर) के संबंध में विचार करते हुए युंग के निम्न कथन को उद्धत करके आक्षेप किया है—"आर्कीटाइप्स ऑफ़ कलेक्टिव अनकांशसनेस्... आर् स्पान्टेनियस् फेनॉमिना ह्विच् आर् नॉट् सब्जेक्ट टू ऑवर विल एण्ड वी आर जस्टीफाइड इन एस्क्राइबिंग टू देम् सर्टेन ऑटोनॉमी... दे पजेस् स्पॉन्टेनेइटी परपसिवनेस् ऑर ए काइण्ड ऑफ कांससनेस एण्ड फ्रींविल।" वे कहते हैं कि सामूहिक अवचेतन के मूल बिंब अबाध-उच्छल छवियां हैं जो हमारी इच्छा-शक्ति के नियंत्रण में नहीं है अत: यह पूर्णरूपेण न्याय-संगत है कि हम उन्हें निश्चित स्वतंत्र सत्ता का स्थान दें... उनमें अबाधता-उच्छलता तथा सोद्देश्यता होती है या एक प्रकार की चेतना (कांशसनेस) तथा स्वतंत्र इच्छा-शक्ति।" इसपर हेपबर्न कहते हैं कि यहाँ लेखक, मूल-बिंब पर चेतन के नियंत्रण की अस्वीकृति से, अनुचित रूप से हटकर, दार्शनिक दृष्टि से धोखा देनेवाले उनके मानवीकरण में लग गया है जिससे वे व्यक्ति के विरूद्ध या ऊपर स्थापित हो गए हैं। दूसरे शब्दों में तर्क का स्थान रूपक ने ले लिया है। —"मेटॉफॅर हैज़् टेकन ऑवर द वर्क ऑफ आर्गुमेण्ट" इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह ध्वनित होती है कि मूल-बिंबात्मक निर्मितियां एक ओर मनुष्य की एक क्षेत्र की क्रियाशीलता को दूसरे क्षेत्र की क्रियाशीलता तक पहुँचाने की प्रक्रिया की उपेक्षा करती हैं तथा दूसरी ओर मानसिक जीवन को कुहाच्छन्न करती हैं। जब कि उसका पृथककरण अनिवार्य है। कुछ इसी प्रकार की गड़बड़ उनके द्वारा किये गये मानस के वर्गीकरण-अनुभूति, चिंतन, संवेदन और सहजानुभूति में भी दिखाई पड़ती है। अनूभूति (फीलिंग) को उन्होंने मूल्यांकन करनेवाली क्षमता मान लिया है, ऐसी स्थिति में चिंतन (थिंकिंग) को युंग के मतानुसार

अनुभूति से अतुलनीय मानना, संभव नहीं होगा। यही दशा संवेदन और सहजानुभूति की पृथकता की भी है। वे सहजानुभूति में अनुभूति, चिंतन तथा संवेदन तीनों, विशेषकर इंद्रियों की क्रियाशीलता संवेदन का दमन मानते हैं। ऐसी स्थिति में चेतन और अवचेतन के घाल-मेल के दोषारोपण से युंग को बचाना संभव नहीं होगा।

व्यक्तिवादियों के दृष्टिकोण की स्थिति युंग जैसी ही है। इन्होंने तथ्यीकरण (आब्जेक्टीफाइंग) से सदा बचने का प्रयत्न किया है तथा तथ्य को रूपक का आवरण देकर मनुष्यों को बरगलाया है। वस्तु-स्थिति यह रही कि व्यक्तिवादियों का सारा चिन्तन और भावलोक पूंजीवादी व्यवस्था की अनुकूलनत्व की प्रवृत्ति के कारण अस्तित्व में आया है, यही कारण है कि वे व्यक्ति या मानस को सब कुछ मान लेते हैं और बाहरी जगत की सत्ता नहीं मानते। भला पूंजीपति मजदूर की सत्ता को कैसे स्वीकारेगा? विक्रय वस्तुओं का वास्तविक मूल्य मानव का सजातीय श्रम है, जो वस्तु में स्फटिकीकृत हुआ है, इसे स्वीकार करके वह अपने को सामान्य मजदूर के स्तर पर देखने की संभावना की पीड़ा कैसे दे सकता है; यही कारण है कि मिथक और प्रतीकों का सारा संसार व्यक्ति के योग के बिना ही ठीक उसी प्रकार अस्तित्व में आ जाता है जिस प्रकार पूंजीपति के योग के अभाव में भी उसका सारा उत्पादन बाजार पर हावी हो जाता है। टी. एस. इलियट महोदय का निष्क्रिय मानस जो प्लेटिनम का स्थानापन्न है तथा परंपरा एवं वर्तमान जो आक्सीजन और सलफर डायोक्साइड है, जिनमें प्लेटिनम रूप निष्क्रिय मानस के पड़ते ही सल्फ्यूरिक एसिड रूपी कविता तैयार हो जाती है; इस पूंजीवादी प्रक्रिया को ही प्रतिफलित करने का रूपक-विधान मात्र है, सत्य नहीं। कॉलरिज, क्रोचे, रिचर्ड्स तथा आधुनिकतम बिंबवादी-प्रतीकवादी सभी किसी न किसी रूप में युंग की पद्धति पर ही सोचते और कार्य करते दिखाई पड़ते हैं। यहां वस्तुवादियों के दृष्टिकोण को अत्यंत संक्षेप में देखकर अंतिम निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है।

वस्तुवादी दृष्टिकोण

भौतिकतावादियों एवं द्वंद्वात्मक भौतिकतावादियों ने मिथकों पर वस्तुवादी दृष्टिकोण से विचार किया। फ्रेडरिक एंगिल्स महोदय ने "इन्ट्रोडक्शन टू डायलेक्टिस ऑफ नेचर" में इस दृष्टिकोण का ठोस इतिहास देते हुए बताया कि किस प्रकार मनुष्य ने गति को-प्रत्येक गति को-शरीर और आत्मा के रूप में पहचाना। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि उसने यह माना कि जिस प्रकार पृथ्वी गति की देन है वैसे ही वह हाथ और उसका मानस भी। अभी तक दर्शन के क्षेत्र में प्रतिभाओं का जो दुरूपयोग इस प्रश्न को हल करने में हुआ है कि आत्मा और शरीर, चेतन और जड़ ब्रहम् और प्रकृति क्या हैं, वह बर्बरावस्था के मानस की देन एक मिथक के जाल में पड़े रहने के अतिरिक्त कुछ नहीं है। उन्होंने "फ्योरवाख़ एण्ड क्लासिकल जर्मन फिलॉसफी" में इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा की है। वे कहते हैं —फ्रॉम् द वेरी अर्ली टाइम्स हेव मेन, स्टिल कम्पलीटली इग्नोरेण्ट ऑफ द स्ट्रेक्चर ऑफ देयर ओन बाडीज़, अण्डर द स्टिमुलस ऑफ ड्रीम् एपोरिशन्स केम् टु बिलीव दैट् देयर थिंकिंग एण्ड सेन्सेशन्स वेयर नॉट एक्टिविटीज् ऑफ देयर बॉडीज् बट् ऑफ ए डिस्टिंक्ट सोल हिवच इनहैबिट्स द बाड़ी एण्ड लीब्ज़ इट् ऐट् डेथ-फ्राम दिस टाइम् मेन हैव बीन ड्रिवेन टु रिफ्लेक्ट अबाउट द रिलेशन ऑफ दिस् सोल एण्ड आउटर वर्ल्ड। कहने का तात्पर्य यह कि बहुत प्राचीन काल से ही, मनुष्य अपने शरीर की रचना को नहीं जानता था, स्वप्न में प्रत्यक्ष होनेवाले संवेदनों के प्रभाव में यह विश्वास करने लगा कि उसके चिंतन और संवेदन शारीरिक क्रियायें मात्र नहीं हैं अपितु एक आत्मा की क्रियायें हैं जो शरीर में रहती हैं और मृत्यु होने पर इसे छोड़कर चली जाती है-तब से अब तक संसार और आत्मा के

संबंध पर विचार करने को मनुष्य बाध्य हुआ है।

इसी सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए वे 'एण्टी डुहरिंग'' में वस्तुवादी सिद्धांत को प्रस्तुत करते हैं। उनका कथन है—''आल रिलीजन्, हाउएवर, इज् नॉथिंग् बट् द फैंटास्टिक रिफ्लेक्शन्स इन मेन्'स् माइन्ड्स् ऑफ दोज् एटरनल फोर्सेज् ह्विच् कन्ट्रोल देयर डेली लाइफ; ए रिफ्लैक्शन इन ह्विच द टेरेस्ट्रियल फोर्सेज् अस्यूम् द फार्म ऑफ सुपर-नेचुरल फोर्सेज् इन द बिगिनिंग ऑफ हिस्ट्री इट वाज़् द् फोर्सेज ऑफ नेचर ह्विच वेयर ऐट् फर्स्ट सो रिफ्लेक्टेड, एण्ड इन द कोर्स ऑफ फरदर एवोलूशन दे अण्डरवेण्ट द मोस्ट मेनीफोल्ड एण्ड वैरीड परसॉनी-फिकेशन्स एमांग् द वैरियस पीपुल... दैट् इट् वाज़् लॉंग बिफोर, साइड बाइ साइड, विथ द फोर्सेज ऑफ नेचर सोशल फोर्सेज बिगिन टु बी एक्टिव; फोर्सेज ह्विच् प्रेज़ेण्ट देम् सेल्व्ज़् टु मैन् इक्वली एक्सट्रेनियस एण्ड ऐट्र फर्स्ट इक्वली इनएक्सप्लीकेबुल, डॉमीनेटिंग देम विद् सेम अॅप्परन्ट नैसेसिटी, फोर्सेज ऑफ नेचर देम् सेल्वज।''

यह लंबा उदाहरण इसलिए देना पड़ा कि व्यक्तिवादियों के प्रबल मतों के विरूद्ध यही सशक्त मत है जिसे मिथक पर कोई निर्णय देने के पूर्व ध्यान देना आवश्यक है। इसमें कहा गया है कि ''सभी धर्म मानव के नित्य जीवन को नियंत्रित करनेवाली बाह्य भौतिक शक्तियों के मानस में भावात्मक प्रतिफलनों के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। इस प्रतिफलन में भौतिक शक्तियां अलौकिक शक्तियों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। इतिहास के आरम्भ में प्रकृति की शक्तियां ही इस रूप में प्रतिफलित हुई, और विकास-क्रम में विभिन्न जातियों में इनमें विभिन्न परिवर्तन हुए तथा इनका मानवीकरण हुआ... किंतु बहुत प्राचीनकाल में ही प्राकृतिक शक्तियों के साथ-साथ सामाजिक शक्तियां भी गतिशील हो गई; ये सामाजिक शक्तियाँ भी प्राकृतिक शक्तियों के सदृश्य ही बाह्य एवं रहस्यपूर्ण थीं तथा इन्होंने भी मनुष्यों पर प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की सापेक्षता में उसी प्रकार शासन किया जिस प्रकार प्राकृतिक शक्तियों ने।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्वप्न, प्रतीक या मिथक सामूहिक अवचेतन की उपज नहीं हैं अपितु प्राकृतिक और सामाजिक शक्तियों के संवेदनात्मक प्रतिफलन मात्र हैं। ये भी संवेदन ही हैं; जाग्रतावस्था में संवेदन अपेक्षाकृत अधिक प्रबल रूप में मानस में प्रतिफलित होते हैं तथा स्वप्न, प्रतीक या मिथक के निर्माण के समय कुछ दुर्बल रूप में। जाग्रत के संवेदन घंटे पर पड़ी चोट हैं तो स्वप्न, प्रतीक एवं मिथ्य क्रम-क्रम डूबता हुआ अनुरणन है। मनोविज्ञान के आचार्यों की शब्दावली में कहा जाय तो यह कहना होगा कि जाग्रतावस्था में चेतन (कांशस) का नियमन प्रबल होता है किंतु स्वप्न, प्रतीक एवं मिथक के रचना-काल में दुर्बल। यह सामान्य अनुभूत सत्य है कि किसी भी बाहरी शक्ति के प्रथम संवेदन पूर्णरूपेण प्रत्यक्षीकृत नहीं हो पाते; पूर्व संवेदनों के साम्य-वैषम्यमयी संबद्धता की प्रक्रिया से होकर ही वे पूर्णरूपेण प्रत्यक्षीकृत होते हैं तथा दुहराये न जाने पर अन्त: परमाणु व्यवस्था शीघ्रता से ऐसी व्यवस्था में नहीं ढलती कि उसे चेतन (कांशस) के अभिन्न अंग के रूप में अनुभूत या प्रत्यक्षीकृत किया जा सके। वस्तुत: प्रत्येक संवेदन अन्त: परमाणु-व्यवस्था है जो बाह्य कहे जानेवाली परमाणु-धारा के स्पर्श से अस्तित्व में आती है। प्रकाश की परमाणु-धाराएँ सर्वाधिक-क्षिप्रता और बहुलता के साथ अन्त: परमाणु-व्यवस्थाओं को जन्म देती हैं अत: चक्षु-बिंब ही जीवन में प्रधान अनुभूत होता है। इसके पश्चात् पवन-कंपनों के रूप में पहुँचने वाली परमाणु-धारा का महत्व है और इसी से शब्द-बिंबों का संसार बनता है। गंध, रस (आस्वाद) तथा स्पर्श के संवेदनों की रचना ऐसी परमाणु-धाराओं से होती है जिन्हें प्रकाश एवं पवन के कंपन से अधिक घनीभूत पदार्थ के घटक के रूप में प्रत्यक्ष किया जाता है। ये संवेदन या परमाणु-व्यवस्थाएं ही बिंब, विचार, स्मृति आदि सभी मानसी

प्रक्रियाओं के रूप में प्रत्यक्ष होती हैं। ये व्यवस्थाएँ क्षण-क्षण बनती और बिगड़ती रहती हैं।एक प्रकार की परमाणु-धारा की सापेक्षता में एक प्रकार की व्यवस्था बनती है; किंतु प्रकाश की भयंकर गति तथा अन्य परमाणुओं की गतियों की तीव्रता के कारण ये व्यवस्थायें इतनी क्षिप्रता से बनती और बिगड़ती हैं कि इनका क्रम असंलक्ष्य ही रहता है। जीव-विज्ञान के अध्येताओं ने संवेदनों को ज्ञान-तंतु-जीवाणु (न्युरॉन्स) की गतिशीलता के रूप में देखा है। उन्होंने मस्तिष्क को बाहर निकालकर तथा क्षेत्र के सम्मुख किसी रंगीन वस्तु को रखकर यह देखने में भी सफलता प्राप्त की है कि रंग का प्रतिफलन न्यूरोन्स की गतिशीलता के रूप में, क्षेत्र-क्षेत्र से भीतर की ओर मानस तक परमाणुओं की गतिशीलता ही है।

आलोचना के क्षेत्र में मिथक

यह देखा जा चुका है कि मिथक पर व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से विचार करनेवाले दार्शनिक और मनोविज्ञानवेत्ताओं का प्रभाव साहित्य और कला के क्षेत्र में भी पहुँचने लगा था। आलोचना के वे सिद्धांत, जो कला को मानसी रचना सिद्ध करने में लगे थे, बिंब, प्रतीक और मिथक के निर्माण को एक ही प्रकार की मानसिक गतिविधि की देन समझने लगे। प्लेटो ने आकृति को संसार का मूल रूप कहकर मिथक को ही सत्य मान लिया था—उनके लिए आत्मतत्व सत्य था और उसकी अनुकृति विश्व उसे विकृत करता था अतः इस अनुकृति के उपासक कवियों को वे अपने रिपब्लिक में स्थान नहीं देना चाहते थे। अरस्तू ने अनुकृति को कर्म (डुइंग एण्ड मेकिंग) का पुनः प्रत्यक्षीकरण माना। यही कारण था कि उन्होंने कहा था—''पोयट्री इमिटेट्स द युनिवर्सल एलिमेण्ट इन ह्यूमन लाइफ़।'' अर्थात् काव्य में मानव जीवन के विश्वजननीन तत्व अनुकृति बनते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अरस्तू काव्य को मिथक नहीं कह सकते थे; क्योंकि उनकी दृष्टि में भी मिथक सत्य जीवन था और काव्य उसकी अनुकृति मात्र था। प्रोफेसर बूचर ने इसी तथ्य को यों कहा था—''आर्ट इन् अरिस्टॉटिलियन थियरी इज़् नॉट ए सिम्बल बट् ए सिम्बलेन्स ऑफ रियलिटी'' अर्थात् अरस्तू के सिद्धांत के अनुसार कला प्रतीक नहीं है अपितु सत्य का प्रतिरूप है। कारण स्पष्ट है। ग्रीक नाटकों में मिथक सत्य था—प्रतीक भी था; तथा नाटक उसी की अनुकृति था। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शती में आकर वर्कले, ह्यूम, कांट, शेलिंग और हीगेल जैसे आत्मवादी दार्शनिक उत्पन्न होते हैं और उनका प्रभाव साहित्य-शास्त्र पर पड़ता है। कॉलरिज प्रथम विद्वान् आलोचक हैं जो ह्यूम, कांट तथा शेलिंग से प्रभावित होकर कल्पना, तर्क, तथा बुद्धि के स्वरूप और कार्य को निर्धारित करने का प्रयत्न करते हुए काव्य को आत्मा की संपूर्ण क्रिया की देन मान लेते हैं—''पोयट्री इज दैट् ह्विच् ब्रिंग्स द होल सोल ऑफ मैन् इन् टू एक्टिविटी।'' यह मत ही मिथक और काव्य को एक स्तर पर बिठा देता है। वे ''पोयम्'' का लक्ष्य आनंद मानते हैं, किंतु ''पोयट्री'' का सत्य। मिथक का लक्ष्य भी सत्य ही है, क्योंकि यह भी अन्तर्दृष्टि का फल है। उनकी मूल (प्राइमरी) तथा मूलज (सेकेण्डरी) कल्पनाओं की क्रियाशीलता में मिथक-निर्माण की संभावनाओं का प्रत्यक्ष करना सहज है।

उन्नीसवीं शती तथा बीसवीं शती के प्रथम चरण में प्रतीकवादियों एवं बिंबवादियों का जोर बढ़ने के साथ मिथक को भी साहित्य के अंतर्गत विचार का विषय बनाया गया। पुरातत्वविदों, लोकवार्ता के अध्येताओं, धर्म के उद्भव-विकास के जिज्ञासु विद्वानों ने मिथक की इतनी अधिक चर्चा कर डाली कि धीरे-धीरे यह साहित्य में छा गया। अमरीका, फ्रांस तथा इंगलैंड में प्रतीकवादियों और बिंबवादियों का जोर रहा। पो, वॉदलेयर, मलार्मे, एजरा पाउण्ड, येट्स, टी, ए. इलियट, वेलेरी, जेम्स ज्वायस आदि ने इन वादों को काव्य में प्रत्यक्ष किया; और मिथक-निर्माण को कलाकार की महत्त्वपूर्ण क्षमता माना।

रूस में गोगोल का कथा-साहित्य, वी. इवानोव (१८६६-१९४९) की रचनाएँ, बेली तथा अलेक्जेन्डर ब्लाक (१८८०-१९२१) की कृतियों में मिथकों का अत्यंत प्रभावशाली उपयोग हुआ। वहां शोलोखोव ने इस सिद्धांत को स्थापित किया कि प्रतीकवाद धर्म का ही प्रतिरूप है और काव्य सत्य या परमात्मा का सहजानुभूतिमूलक प्रत्यक्षीकरण है। कहने का तात्पर्य है कि महाकाव्य, त्रासदी, लोकगीत तथा रहस्य-नाट्य जो सामूहिक रचनायें हैं तथा मिथक एवं धर्म का जो मूल स्रोत है, उसी से उच्चतम कलात्मक उपलब्धि भी होती है। यह व्यक्ति ही ''उद्देश्यहीन सौंदर्य'' के सिद्धांत के माननेवालों के विपरीत टी. एस. इलियट के परंपरावाद आदि के सिद्धांतों को स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत करता दिखाई पड़ता है।

क्रिस्टफर काडवेल की प्रसिद्ध पुस्तक ''इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' में मिथक को काव्य के साथ मिलाकर देखा गया। उन्होंने कहा कि ''आदिम मनुष्य मिथक के रूप में शब्दों में जिन बिंबों को प्रस्तुत करता है वे तथ्य के ही बिंब होते हैं। ये उसी प्रकार के बिंब हैं जिस प्रकार उसके द्वारा बनाए उसके शत्रु के जादू के पुतले। इसके प्रति उसका व्यवहार वस्तुतः तथ्य के प्रति ही होता है।''

इस कथन से स्पष्ट है कि मिथक-जगत में व्यवहार करके व्यक्ति यथार्थ जगत को भी प्रभावित करता है। इस प्रकार मिथक और कविता दोनों ही सर्जन-प्रक्रिया की दृष्टि से एक धरातल पर प्रतिष्ठित हो गए हैं। अंतर केवल काल तथा मानसिक विकास की दृष्टि से है। आदिम मानव ने जिन मिथकों का निर्माण किया था वे उनके लिए तथ्य से भी कहीं अधिक प्रभावशाली थे। मानव-मानस पूरे विश्व में एक-सा विकास नहीं कर सका है—हर काल में इसके विकास में व्यक्ति समूह तथा समाज के स्तर पर विकास के स्तर की भिन्नता रही है, आज भी है और भविष्य में भी इसके बने रहने की संभावना को अस्वीकार करना असंभव ही है।

कैसिरर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक ''लैंगुएज एण्ड मिथ'' में विस्तारपूर्वक विचार करते हुए यह सिद्ध किया है कि हर युग का मानव-मानस आदिम-मानव-मानस की तरह की मिथक बनाता चला आया है। वह मानस की तनावपूर्ण स्थिति में देवता, देवी, सृष्टि-कथाएँ आदि मिथकों को जन्म देता था और आज का मानव-मानस भी तरह-तरह के आर्थिक,राजनैतिक,तकनीकी और कलात्मक मिथकों को जन्म देता चल रहा है। इनके द्वारा उसका यथार्थ जीवन प्रभावित तथा परिचालित होता है अतः इनके निर्माताओं और इनसे प्रभावित होनेवालों के लिए ये मिथक यथार्थ से भी कहीं अधिक प्रभावशाली होते हैं।

अभी तक विश्व का मानव-समाज संवेदन को महत्व देता हुआ अतीत तथा समसामयिक मिथकों से अपने जीवन को प्रभावित और परिचालित करता चला आया है। प्रत्येक देश में धार्मिक ग्रंथों द्वारा प्रदत्त मिथक व्यापक मानव-समाज को जिस मिथकीय चेतना में डाले हुए है उसे मानव-मंगल-विधान को अंग बनाना संभव नहीं रह गया है। परमसत्ता अथवा धर्म-प्रवक्तकों के प्रति आस्था उत्पन्न करनेवाले मिथकों की शक्ति से कोई अपरित नहीं है—राम, कृष्ण, गौतम बुद्ध, ईसा मसीह, मुहम्मद साहब आदि से संबंधित मिथकों की शक्ति किसी भी शक्तिशाली राजनीतिक, धर्म-नेता या किसी भी प्रकार के कलाकार और विद्वान् से अधिक है। वस्तुतः मिथक का संसार यथार्थ संसार का समांतर है और मानव-जीवन की सापेक्षता में यथार्थ जगत की तरह ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विश्व का किसी काल का कोई ऐसा साहित्य नहीं जिसमें मिथकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका न मिले। भारतीय साहित्य में भी मिथकों का बहुविध प्रयोग हुआ है, इनकी शक्ति अमोघ रही है तथा आज विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हो चुका है।

प्रश्न स्वाभाविक है कि विज्ञान द्वारा प्रदत्त प्रज्ञा के प्रकाश में जब सभी भौतिक, रासायनिक, जैविक सत्ताएँ अपने स्वरूप को पदार्थ से ऊर्जा तक के आयाम से एकीभूत कर रहीं है तथा पर्यावरण, चरम जैविक विकासपूर्ण मानव-समाज तथा तकनीकी विकास करनेवाली बौद्धिक चेतना की अभिव्यक्ति तीनों मानव के मंगल-विधान के विपरीत जानेवाले असंतुलन को जन्म दे रही हैं तब मिथक के उपयोग के संबंध में क्या किसी दृष्टि को अपनाना विश्व-मंगल-विधान में सहायक हो सकेगा। इस प्रश्न का उत्तर विवादास्पद ही रहेगा क्योंकि दृष्टि भी सापेक्षिक सत्य है जो पर्यावरण, मानव-समाज तथा बौद्धिक चेतना की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं के परिणाम स्वरूप ही अस्तित्व में आती है। संप्रति चेतना को प्रकाशित करनेवाली दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि मानव-मंगल को कसौटी बनाकर ही मिथकों का सर्जन, परीक्षण, त्याग और ग्रहण जीवन के ही क्षेत्र में होना चाहिए, यही मानव के विकास का सच्चा परिचायक होगा। मिथक, बिंब प्रतीक तीनों ही साहित्यालोचन में विशेष विचार के विषय बने हैं तथा इनके स्वरूप और उपयोग के संबंध में विपुल साहित्य लिखा जा चुका है, किंतु इनके सर्जन और उपयोग को मानव-मंगल की सापेक्षता में कम ही देखा गया है अतः इस ओर जितना ध्यान दिया जाय उतना ही वांछनीय होगा। □

प्राक् मिथिला की सभ्यता और संस्कृति

डॉ. देवेंद्र ठाकुर

भारत प्राचीनकाल से सभ्यता का देश है। इसकी संस्कृति की धारा अपनी प्राचीनता का पुट लिये हुए अध्यात्म का लक्ष्य अपने भीतर समाहित किये हुए धीरे-धीरे बढ़ रही है। भारतीय संस्कृति का मूलाधार इसके कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है, जिनके कार्य-कलापों की गरिमा सीधे ईश्वरत्व का दर्शन कराती है। इस क्रम में भगवान राम का स्वरूप सर्व प्रगट होता है, जिन्होंने आर्य संस्कृति को उत्तर से सुदूर दक्षिण तक स्थापित किया। कृष्ण राम के दूसरे बड़े पूरक थे, जिन्होंने भारतीय सांस्कृतिक धारा को पश्चिम से पूरब की ओर गतिमान किया।

यही सही है प्राक् ऐतिहासिक युग में आर्य संस्कृति पहले पश्चिम भारत में स्थापित हुई, फिर सिंधु सरस्वती, गंगा, यमुना की धारा के साथ उत्तर-पूर्व भारत की ओर फैलती गयी। यह फैलाव का मार्ग सीधा नहीं था, अपने में जटिलता लिए हुए था। पंचनद क्षेत्र से चली संस्कृति की धारा जैसे—वेद की ऋचाओं को अपने में जोड़ती कैसे आगे बढ़ी यह प्रसंग भी अपने में बहुत विस्मयकारी है।

आर्य सभ्यता इस देश में प्रचलित सभ्यता से भिन्न थी। अग्निपूजक आर्य, मध्य एशिया से आए, या अफ्रीका के उत्तरी भाग से या भारत में जन्मे यह विवादास्पद है। लेकिन भारत में पश्चिम से पूरब की ओर इन्होंने जो अभियान अपनी सभ्यता और संस्कृति के प्रसार के लिए आरंभ किया, वह वेद से लेकर पुराण तक, फिर प्रचलित आख्यानों से लेकर, वाल्मीकि रामायण से महाभारत तक के विवरणों से स्पष्ट होता है।

पश्चिम में पंजाब, केंद्र में कोशल और पूरब में मिथिला, इस सभ्यता और संस्कृति की धारा के तीन महत्वपूर्ण क्षेत्र प्रतीत होते हैं, जिनमें सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ, आर्योतर सभ्यता की नींव पर आर्य सभ्यता और संस्कृति का आभ्यंतरिक जीवन रूप फला-फूला। इस दृष्टिकोण से मिथिला का महत्व सर्वोपरि हो जाता है। इस पृष्ठभूमि में, कि मिथिला की सीमा रेखा कैसे स्थापित हुई, जिसमें राज्य संस्था का जन्म कैसे हुआ और वह कैसे विकसित हुआ फिर उसकी सभ्यता कैसे पनपी और बढ़ी इनके प्रस्तुतिकरण की ओर हमारा विनम्र प्रयास है।

संपूर्ण मिथिला की भूमि का भारतीय जीवन-पद्धति के क्रम में जो रूप विकसित हुआ, वह अध्यात्म को संपूर्ण जीवन में इस ढंग से समाहित किये हुए है कि उसका आभ्यांतरिक कार्य-कलाप एक रूढ़ि मूलक गैर भौतिक पद्धति से जुड़ा हुआ है। जीवन का लक्ष्य अध्यात्म है, भौतिकता का जीवन से संयोग

मात्र काम चलाऊ जीवन-यापन के लिए है। अध्यात्म प्रगति के लिए भौतिक आधार का कोई महत्व नहीं है। जीवन का उत्स अध्यात्म की ओर लहराता है। इन मूलाधारों के साथ आर्य-जीवन संस्कृति से जुड़ा हुआ है और हिमालय की गोद में बसी मिथिलावासियों की जीवन-पद्धति और ज्यादा गहनता के साथ लक्षित होती है।

इतिहास में मिथिला तीर-युक्ति अथवा तिरहुत का स्थान विशिष्ट एवं प्राचीनतम है। कारण है—सभ्यता और संस्कृति के विकास के क्रम में साथ-साथ चिंतन एवं मनन के क्रम में इस क्षेत्र का विशिष्ट योगदान रहा है। इस जनपद के प्राचीन निवासी, वे चिंतक ऋषि हों या भूपतिगण या सामान्य जन, वे अपने शुद्धाचरण, ज्ञान-विज्ञान, वैभव एवं न्यायप्रियता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। शौर्य और ज्ञान के साथ वे देदीप्यमान हैं। प्राक् ऐतिहासिक मिथिला की सभ्यता और संस्कृति के स्वरूप की पहचान के लिए शतपथ ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन साहित्य का दिग्दर्शन आवश्यक है।

भौगोलिक दृष्टिकोण से नेपाल की तराई से मिथिला का अखण्ड संबंध है। मिथिला की पुराण प्रसिद्ध राजधानी जनकपुर वर्तमान में नेपाल में है। इस तरह मिथिला का प्राचीन इतिहास, इतिहास ही नहीं, सभ्यता और संस्कृति का इतिहास भी स्वतः नेपाल से संबंधित हो जाता है। मिथिला के प्राक् ऐतिहासिक युग की सीमा-रेखा का वर्णन वाल्मीकि रामायण और दूसरी ओर विष्णु, वायु, स्कंध एवं श्रीमद्भागवद पुराणों में मिलता है।

गंगा के उत्तर में हिमालय की तराई में मिथिला एवं वैशाली नाम के दो राज्य हैं। इन राज्यों की सीमा का उल्लेख उन पुराणों में नहीं है। तीर-भूक्ति या तिरहुत मिथिला का परवर्ती नाम है। मिथिला खण्ड बृहत विष्णु पुराण वर्णित क्षेत्र का एक भाग है। जिसके अनुसार तीर-भूक्ति के पूर्व में कौशिकी (कोशी) पश्चिम में शासी ग्रामी (नारायणी, गंडकी या सदानीरा), दक्षिण में गंगा और उत्तर में पर्वतराज हिमालय का अरण्य प्रदेश सुशोभित है। इन सीमाओं के बीच वर्तमान पुराना दरभंगा, मुजफ्फरपुर और चम्पारण ज़िले के संपूर्ण भू-भाग एवं मुंगेर, भागलपुर तथा पूर्णियां ज़िले के अंश और नेपाल की तराई भूमि आ जाती है। विष्णु पुराण कहता है कि मिथिला जनपद की लंबाई २४ योजन १९२ मील या (३०७.२ किलोमीटर, चौड़ाई १६ योजन १२८ मील) या २०४.८ किलोमीटर और इसके उत्तर में पर्वतराज हिमालय का आरण्य प्रदेश दक्षिण में पुण्य गंगा नदी पूर्व में चंचला कोशी की वेगवती धारा और पश्चिम में गंडक नदी है। मिथिला की यही सीमा लगभग भट्टाचार्य संपादित गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरिज, जिल्द १०४, सुंदरी खण्ड, भाग-३, श्लोक ४२ पृष्ठ-६९ में शक्ति संगम तंत्र के रूप में उल्लेख किया गया है। फिर कविवर चंदा झा, गंगानाथ झा—के मेमोरेशन, वॉल्यूम, पृष्ठ ३८० में अकबर द्वारा खण्डवाल कुल के दरभंगा महाराज के पूर्वज महेश ठाकुर को मिथिला राज्य प्रदान के संबंध में उर्दू अक्षरों में उसकी सीमा ऐसे ही है।

मिथिला की सीमाओं के अंदर संपूर्ण दरभंगा, मुजफ्फरपुर एवं चम्पारण जिलों तथा भागलपुर, पूर्णियां और मुंगेर जिलों के कुछ अंश की भूमि के साथ तराई नेपाल एवं निचली हिमालय पर्वत श्रेणी भी थी।

भिन्न-भिन्न काल में मिथिला राज्य के क्षेत्र के विस्तार में परिवर्तन दृष्टिगत होता है। उत्तर में हिमालय के पादभाग से आरंभ कर दक्षिण में गंगा की धारा तक तथा पूर्व में महानंदा से लेकर पश्चिम में गंडक तक मिथिला का क्षेत्रफल लगभग २५००० वर्गमील होता है।

एच. सी. राय चौधरी विदेह राज्य मिथिला को उत्तर बिहार के वर्तमान तिरहुती अथवा तिरहुत के भीतर ही सीमित मानते हैं। कीथ एवं मैक्डावेल के विचार में मिथिला को कौशल राज्य से पृथक करने

वाली नदी सदानीरा थी। पर ओल्डेनवर्ग, सदानीरा एवं गंडक में भेद बताते हैं, तथा पार्जीटियर सदानीरा को राप्ती नदी मानते हैं। मिथिला राज्य हुएन-त्संग द्वारा वर्णित भारत (फाइव इण्डियाज़) में से एक था।

इस भौगोलिक सीमा की स्थिति को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अवलोकन के बाद जो बात सामने आती है, वह है मिथिला की सीमा लगभग प्राक्-ऐतिहासिक काल से अब तक अपरिवर्तित रही है। इसके लिए प्रकृति द्वारा सीमा निर्धारण अपना विशेष महत्व दिखाता प्रतीत होता है। यह क्षेत्र वाल्मीकि रामायण में एवं अन्य प्राचीन ग्रंथों में मिथिला नाम से प्रयुक्त हुआ है। श्रीमद्भागवत पुराण मिथिला का नाम महाराजा 'मिथि' के नाम पर उद्भत् करता है। इस भू-भाग के प्रथम नृपति 'मनुतनय' इक्ष्वाकु के पुत्र निमि थे। फिर मिथि निमि के पुत्र हुए। मिथि के जन्म के संबंध में निम्न आख्यान पुराणों में वर्णित हैं—महाराज निमि एक बाद अपने कुल गुरु एवं पुरोहित वशिष्ठ की आज्ञा के बिना ही यज्ञ करवाने के हेतु गौतम को ऋतिजवरण कर लेने के अपराध में ऋषि वशिष्ठ का कोपभाजन बन गये तथा अंततोगत्वा उनके शाप से मृत्यु को प्राप्त हुए। उसके बाद सभी देवता एवं महान् ऋषिगण ने एकत्र होकर उनकी आत्मा से पुन: मनुष्य रूप में प्रगट होने की प्रार्थना की पर उन सबों का अनुरोध स्वीकृत नहीं हुआ। ऋषियों ने उन्हें वरदान दिया कि उस काल से सतत् उनका निवास मानव निमेष (पलकों) पर रहेगा। प्रश्चात् उनके शरीर से उनकी समता के सुयोग्य पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा से उन महात्माओं ने उनके शरीर को मथनी में रखकर उसका मंथन किया। उन सबों को अपने प्रयत्न में सफलता मिली और उस मंथन के फलस्वरूप मिथि नामक उनके एक पुत्र का वहां आविर्भाव हुआ, जो अपने पिता के राज्य का उत्तराधिकारी बना। उसी मिथि के नाम पर उसके द्वारा शापित भूमि का नामकरण 'मिथिला' हुआ। 'श्री मद्भागवत' में उल्लेख है कि यज्ञ करने के लिए उघत राजा निमि का निर्मंत्रण अस्वीकार कर जब वशिष्ठ की अनुपस्थिति में भृगु आदि मुनियों की सहायता से निमि ने यज्ञ संपन्न किया। इस कारण से वशिष्ठ को इन्द्र के ५०० वर्षों वाले यज्ञ को समाप्त कर स्वर्ग से लौटने पर बहुत क्रोध हुआ और उन्होंने निमि को विदेह हो जाने का शाप दिया। वशिष्ठ के इस कार्य से प्रजा घबड़ा गई। तब ऋषियों ने अराजकता उत्पन्न होने के भय से निमि के विदेह (मृत) देह का मंथन किया। इस मंथन से जो शिशु उत्पन्न हुआ, उसका नाम 'मिथिल' अथवा 'विदेह' रखा गया। इस बालक की संज्ञा 'जनक' की भी दी गई।

> 'जन्मा जनक: सोऽभूदैवेदेहस्तु विदेहज: ।
> मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ।।

ऋषि के शाप से निमि के पंच भौतिक शरीर का विनाश हुआ था। अत: वे विदेह कहलाये। उनके वंशज भी पीछे 'विदेह' नाम से प्रख्यात हुए। उनके पुत्र राजा मिथि अपनी उत्पत्ति में स्वयंभूत इससे उनकी उपाधि—जनक पिता की हुई। इसलिए मिथि के वंशजों ने पैतृक उपाधि विदेह के साथ ही जनक का नाम परंपरागत रूप से धारण कर लिया। जो नाम इस राजवंश का बहुत दिनों तक चलता रहा। मत्स्य पुराण के ५५ वें अध्याय में भी मिथि का जनक के उत्पन्न होने की कथा इसी रूप में वर्णित है।

> 'अराजकमयं नृणां मन्यमाना महर्षय: ।
> दहममन्य स्मनिमे कुमार: समजायत ।।
> जन्मना जनक: सोऽभवद विदेहस्तु विदेहम: ।
> मिथिस्तु मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता ।।

पश्चाद्‌वर्ती ग्रंथ 'भविष्य पुराण' (शब्द कल्पद्रुम, भाग-३ पृष्ठ-६२३) में मिथिला नगर एवं 'जनक' उपाधि की उत्पत्ति का वर्णन निम्नलिखित रूप में किया गया है—

> 'निमिः पुत्रस्तु तत्रैव मिथिर्नाम महान् स्मृतः ।
> प्रथमं भजबलैर्येन त्रेहुतस्य पार्श्रतः ।।
> निर्मितं स्वीयनाम्बा च मिथिलापुर मुत्तमम् ।
> पुरी जनन सामर्थ्यात् जनकः स च कीर्तितः ।।'

अर्थात् अयोध्या नृपति मनु वंशीय इक्ष्वाकु पुत्र ने यज्ञपूत भूमि में पदार्पण किया। उनके तनय मिथि ने वहां नगर का निर्माण किया। उन्हों के नाम पर उस नगर का नाम मिथिला हुआ। नगर निर्माता (नगर के जनक) होने के कारण मिथि 'जनक' कहलाने लगे।

प्रख्यात व्याकरणाचार्य पाणिनि ने मिथिला शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार की है—

> 'मिथिलादयश्र-मथ्येन्ते-रिपवो मिथिला नगरी ।'

मिथिला वह जनपद है, जहां शत्रुओं को चकनाचूर कर दिया जाता है। यह व्युत्पत्ति मिथिला के अधिवासियों की शक्ति का परिचायक है। इलायुध की भी विवेचना लगभग इसी प्रकार है। जैसे—

मथ्यन्ते शत्रुवो यस्यां। मथ मिथिलादयश्रुव इति इलचअकारस्येत्वं निपालते स्वनामकख्याता नगरी। सा तु जनकपुरी नाम यथा। विदेहा मिथिला प्रोक्ता। इतिहलायुधः'

शतपथ ब्राह्मण निस्संदेह 'रामायण' रामायण एवं पुराणों से अति प्राचीन है; क्योंकि ब्राह्मण ग्रंथ वेदों के अनुगामी हैं।

मिथिला की सीमा रेखा और उसके प्राचीन राजवंश की उत्पत्ति की कथा का रूप स्थापित करने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि यह जानकारी ली जाय कि मिथिला के भू-भाग में सभ्यता और संस्कृति का विकास कैसे हुआ। सभ्यता और संस्कृति में विकास के लिए जो बात सामने आती है कि आर्यों ने यहाँ के भू-भाग के निवासियों को युद्ध में पराजित कर सभ्यता प्रचार का जो कार्य आरंभ किया, वह धीरे-धीरे एक गति के रूप में बढ़ता गया। इस संदर्भ में इस गति को मगध के बाद वैशाली और मिथिला में पहुँचाने की कथा जो कुछ भी पुराणों में दिग्दर्शित होती है, वह इस प्रकार है—

राजा विदेह माथप ने मिथिला में पहुँचकर अग्निवेश्वानर से प्रश्न किया कि 'अब मेरा वास कहाँ हो?' उन्हें उत्तर मिला कि 'इस नदी के पूर्व की ओर।' ऐसा वर्णन किया गया है कि तब तक इसके पूर्व किसी आर्य संस्कृति के वाहकों ने उस नदी को पार नहीं किया था और यज्ञाग्नि का प्रज्वलन भी इस भूमि में तब तक कभी नहीं हुआ था। नदियाँ अनेक थीं और वहाँ की धरती की दलदली एवं आद्र वह भूमि आसानी से मानव के निवास योग्य नहीं थी। लेकिन आर्य संस्कृतिवाहक ब्राह्मणों ने वहाँ धीरे-धीरे अग्नि प्रज्वलित की। लोग आकर बसने लगे। सभ्यता का प्रसार हुआ एक संस्कृति में जीवन-पद्धति पनपी। भूमि धीरे-धीरे गीलेपन से मुक्त होती गई, वह उर्वरा बनी, कृषि और पशु-पालन का कार्य आगे चला। विदेह माथप का वहां निवास हुआ। माथप के नाम पर वह भूमि मिथिला कहलाई।

वैदिक, विदेह और पौराणिक 'विदेह' शब्दों में तथा उसी प्रकार के शब्द 'माथप' और मिथि में समता दीख पड़ती है। संभव है, पूर्वोक्त पौराणिक वर्णन का प्रभाव स्रोत वही 'शतपथ ब्राह्मण' ग्रंथ के

निर्माण-युग में भी आर्यों के प्रसिद्ध कौशल एवं विदेह राज्यों की महमवर्ती सीमा सदानीरा (गण्डक) नदी थी।

ऋग्वेद में गौतम राहुगण का नाम आया है। (हिम्स ऑफ दी-ऋग्वेद ग्रिफिथ द्वारा लिखित १८९६ ई. वाल्यूम-१ मंत्र ७४-८२) इससे स्पष्ट पता चलता है कि ऋग्वैदिक युग में ही मिथिला में आर्यों का विकास हो चुका था।

भण्डारकर की भी इस संदर्भ में यही मान्यता है कि ब्राह्मण युग के बहुत पूर्व ऋग्वैदिक संहिता काल में ही विदेह प्रदेश में वैदिक आर्य सिद्धांतों की जड़ दृढ़ हो चुकी थी। इस प्रकार मिथिला की सभ्यता और संस्कृति की धारा के दिग्दर्शन के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि उसके बाद की स्थिति की खोज की जाये। विदेह राजाओं में महान दार्शनिक राजा हो गये हैं। वे शिरद्वज जनक के अठारहवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए तथा बाहुलास्व के पुत्र थे। वे हिरण्य नाम ऋषि के शिष्य थे। उन्होंने योग की शिक्षा पायी थी। यह तथ्य विष्णु एवं वायु पुराण से प्रकट होता है। विष्णु और वायु पुराण के अनुसार पश्चाद्वर्ता या कीर्तिजनक अपने काल के पूरे आर्य भारत के उच्चतम कोटि के व्यक्ति थे। वे दर्शन, ज्ञान एवं विद्या के संरक्षक थे। उनके दरबार में ऋषियों, ज्ञानियों की लंबी परंपरा थी; जिसमें १० अस्वल, जड़त्कारण, याज्ञवल्क्य, ज्यूलास, जिआनी, आस्तकहोद, जाड़बी, उद्यालक, आरूणी इत्यादि।

इन ऋषियों में से अनेकों ने कौशल और कुस से आकर मिथिला को अपना स्थान बनाया था। ब्राह्मण ग्रंथों में मिथिला राजाओं में विदेह राजाओं की परंपरा का विशद् वर्णन है। ब्राह्मण ग्रंथ विदेह राजाओं के ज्ञान-विज्ञान से लेकर उनके प्रताप और शौर्य की भी कथाएँ कहते हैं। शौर्य और प्रताप में शिरध्वज जनक ने पूरे भारत को दहला दिया था। मिथिला केंद्र था और मथुरा तक उनका राज्य था। जातक ग्रंथों में भी महाजनक की कथा इसी तथ्य को प्रतिपादित करती है। जातक कथा तो मिथिला राज्य को समुद्र पार तक फैलने की बात करता है। महाजनक की यात्रा अभियान में समुद्री तूफान का वर्णन आता है।

इस पृष्ठभूमि में प्राक् ऐतिहासिक मिथिला की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का लेखा-जोखा और सभ्यता एवं संस्कृति के उदात्त गुणों का चित्रण थोड़ा कठिन कार्य हो जाता है। फिर भी वेद, पुराण एवं रामायण तथा महाभारत वर्णित विवरणों के आधार पर वहाँ की राजनैतिक, सामाजिक तथा सभ्यता एवं संस्कृति का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

वैदिक युग के आरंभ में सर्वगुण संपन्न पुरूष जनपद से निर्वाचित होकर नृप का पद सुशोभित करता था। ऋग्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण महाभारत से यह स्पष्ट होता है। उसके बाद राजा का पद वंश परंपरागत हो गया। पर विशेष स्थिति में चुनाव की प्रथा का प्रचलन आगे भी चलता रहा। किसी राज्यकुल के समाप्त होने पर उसके स्थान में योग्य राजा के निर्वाचन करने की प्रथा प्रचलन में थी।

राजा के लिए उन्हें पदच्युत एवं बहिष्कृत करने का भी विधान था। उसे प्रतिष्ठित करने वाली एक परिषद् होती था जिसे नृप-निर्माण या द्विजाजैय कहा जाता था। ग्रामीण भी इस सभा में सम्मिलित होते थे। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण। वृहतारण्य ३-उपनिषद्-६२१ भी इस तथ्य को स्वीकारते हैं। राजा को पदच्युत एवं बहिष्कृत भी किया जा सकता थश्र इस प्रकार के. पी. जायसवाल के अनुसार समिति राष्ट्र की सर्वशक्ति सम्पन्न सर्वोच्च संस्था मानी जाती है। मिथिला में यह परंपरा प्राक् ऐतिहासिक काल में जीवित थी। बौद्ध युग में यहाँ की प्रथा दो प्रकार की थी। उसे गणाधीन और एकाधीर कहा जाता है। इस काल में मिथिला के ५०० आमात्यों के अगात्यहेता हैं। इस युग में जनता का प्रधान व्यवसाय

कृषि था। उसमें हल जोतना, बीज डालना, तब उपज को काटकर एकत्रित करना आदि का उल्लेख है। उत्पन्न होने वाले बृही (धान या चावल) चौ, मृद्गम एवं मास (उरजत दलस्व) तिल, गोधूम, मसूर की प्रधानता थी। (बाज सनेयी सनहिता—१८सी. एच. वैद हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर-१-१८५ पैतेरिया संहिता २७-१०-२) जातक कथाओं में दुष्काल और दुर्मीक्ष का वर्णन है। मत्स्यन्याय की बात भी अछूत न थी। कृषकों पर अत्याचार होता था। मजुमदार, राय चौधरी एवं दत्ता ने अपने 'ऐन एडवांस हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृ० ४७ पर कुछ लुटेरे जातियों की भी चर्चा की है जो गाँव में आकर कृषि उत्पादन को लूट लेते थे। सभ्यता का विकास इस परिवेश में धीरे-धीरे हो रहा था। धोबी, हजाम, लोहार, सोनार, कुम्हार, मछुआ, हलवाहा, धावन, संवादवाहक, पशुहिंसक, युद्ध सामग्री एवं रथ निर्माता आदि व्यावसायियों के वर्ग का उदय समाज में हो चुका था। वाणिज्य एवं उद्योग की उन्नति हो रही थी। वणिकों का विशेष वर्ग समाज में तेजी से बढ़ रहा था। विदेह अंग कौशल, काशी आदि जनपदों से थल मार्ग और समुद्र मार्ग दोनों से व्यापार होते थे। ऐतेरेय ब्राह्मण में समुद्र यात्रा का वर्णन मिलता है। व्यापारियों के निगम को गण कहते थे। वैदिक साहित्य में श्रेष्टि शब्द ने जन्म ले लिया था। बृहदारण्यक उपनिषद् १-३-१२ में श्रेष्टिन शब्द व्यावसायियों एवं कलाकारों के निगम के लिए बृहत हुआ है। तत्कालीन प्रचलित मुद्रा निष्क या हिरण्य पिण्ड कहते थे। धातुओं का ज्ञान मिथिला में प्रचलित था। स्वर्ण, ताम्र, टीन (दोनों को मिलकर अय धातु)। श्याम लों, शीशा, चाँदी आदि का प्रचलन था। इस परिप्रेक्ष्य में सभ्यता और संस्कृति की झांकी तथ्यों के आलोक में इस प्रकार है—

सर्वोच्च बौद्धिक विकास जनित् आध्यात्मिक उन्नति के प्रतीक उपनिषद् आदि ग्रंथों का निर्माण इसी युग में हुआ। सर्वश्रेष्ठ भारतीय संस्कृति की नींव भी इसी युग में पड़ी, यह स्पष्ट है। वैदिक युग में बाल-बच्चों की शिक्षा मनुष्य का पवित्र कर्तव्य समझा जाता है। बालक एवं बालिकाओं की शिक्षा पर समान रूप से ध्यान दिया जाता था। चरण आदि वैदिक विद्यालयों में बालिकाओं का भी प्रवेश होता था। अधिकांश बालक-बालिकाओं की शिक्षा घर पर ही होती थी। द्विजातियों के लिए उपनयन अनिवार्य था। शिक्षण का आरंभ उपनयन काल से ही होता था। उपनयन संस्कार को आचार्यकरण भी कहा जाता था। विद्यार्थी आचार्यकुल में वास कर अध्ययन करते थे। साधारणत: शिक्षा अवधि १२ वर्षों की होती थी, पर उससे अधिक दिनों तक भी गुरूकुल में निवास कर उच्च ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति योग्य विधार्थी करते थे। परंतु उसके लिए पहले विधार्थी को गुरू के समक्ष अपने को शांत, दांत, उपरत, तितिक्षु एवं समाहित साबित करना पड़ता था। द्विजातियों एवं शूद्रों को समान रूप से शिक्षा देने का प्रचार न था। महाभारत में वर्णित द्रोण-एकलव्य कथा इसका प्रमाण है।

उपनिषद् युग में मिथिला शिक्षा एवं संस्कृति का केंद्र था। जहां गुरू पंचाल से विद्वान ब्राह्मण समुदाय दर्शन ज्ञान की चर्चा में भाग लेने के हेतु पधारते रहते थे। आयुर्वेद विज्ञान का भी विकास मिथिला में समुचित रूप से हुआ था। इसका भी प्रमाण मिलता है। पर पुस्तकें जो लिखी गयीं थीं, वे संप्रति प्राप्य नहीं हैं। ब्रह्म वैवर्त में उल्लेख है कि 'चकारो जन को योगी वैद्ध संदेह भंजनम्।' इससे स्पष्ट है कि जनक ने आयुर्वेद पर कोई भाष्य अथवा ग्रंथ का निर्माण किया था। सुश्रुत पर अपने भाष्य में चक्रपाणि ने कपिल का उल्लेख किया है। अनेक सामाजिक प्रथाओं एवं नियमों का सृजन इसी युग में हुआ, जिसने पीछे चलकर चातुर्वर्ण्य एवं उपवर्णो का रूप धारण कर लिया। आरंभ काल में सामाजिक कर्तव्यों को सुचारू रूप से संपादन करने में वर्ण विभाग सहायक अवश्य हुआ, पर पीछे उस पद्धति के दुरूपयोग एवं दुर्व्यवहार के कारण वह अभिशाप सिद्ध होने लग गया। सूत्र युग से आरंभ कर ऋग्वैदिक ब्राह्मण एवं उपनिषद् युगों में धीरे-धीरे प्रथाओं एवं नियमों के कालक्रम के प्रभाव तथा

आवश्यकताओं के अनुरूप परिवर्तन भी होता गया। आरंभ काल में आदि निवासियों के साथ आर्यों के संसर्ग एवं व्यवहार में रंग-भेद तथा शुद्धता के प्रश्न का आभास मिलता है। ब्राह्मण काल में ब्राह्मण एवं क्षत्रिय पुरूषों का अपने से नीचे वर्ण की महिलाओं से विवाह होने लगा। इसका प्रमाण मिलता है। ब्रह्मर्षि च्यवन का विवाह नृपति सरमान की पुत्री सुकन्या के साथ हुआ था। (शतपथ ब्राह्मण-४, १५, ७)। ब्राह्मण और क्षत्रिय शूद्र कन्या का भी पाणि ग्रहण कर सकते थे। उस काल के ब्राह्मणों का काम दान लेना, सोमपान करना तथा सदा इच्छानुसार विचरण करते रहना था। ब्राह्मण वर्ण पर राजन्यों का साधिकार शासन नहीं था, ऐसा लगता है।

जाति का परिवर्तन भी असंभव नहीं था, पर ऐसा होता कम था। याज्ञवल्क्य से ज्ञान-दान प्राप्त कर राजर्षि जनक ब्राह्मण बन गये। विश्वामित्र (कौशिक) भी राजर्षि से ब्रह्मर्षि हुए थे।

वृहदारण्यक उपनिषद् में संसार का त्याग एवं भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन-निर्वाह की चर्चा है। किंतु ऐसे भिक्षावृति जीवी दार्शनिकों की संख्या अत्यल्प थी और वे विशेषता ब्राह्मण वर्ग के ही होते थे। (सी. वी. वैध: हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर-१, १०१)। पीछे चलकर चार आश्रम-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाण-प्रस्थ एवं सन्यास मानव-जीवन के क्रमश: चार विभागों की कल्पना का सृजन हुआ और उपनिषद् काल के अंतिम चरण में यह कल्पना बद्धमूल हो गयी। चौथेपन में मनुष्य वनवास का जीवन व्यतीत करते थे। पर सभी नहीं।

पीछे चलकर गार्गी, वाचक्नवी, मैत्रेयी एवं सुलभा जैसी विदुषियों का प्रादुर्भाव समाज में विशेष रूप से होने लगा। उन सबों ने विदेह, जनक तथा अन्य राजाओं की सभाओं में जाकर गूढ़ दर्शन संबंधी विविध वाद-विवादों में भाग लेना एवं विचार-विमर्श करना आरंभ किया। पर सभी स्त्रियाँ उस काल में भी विदुषी नहीं थी। मैत्रेयी की कात्यायनी याज्ञवल्क्य की द्वितीय पत्नी साधारण स्त्रियों जैसी थीं, गार्गी एवं मैत्रेयी जैसी विदुषी नहीं। उपनिषद् काल में दो प्रकार की स्त्रियों का वर्णन मिलता है—(१) ब्रह्मवादिनी तथा (२) सघोवध्र। (राधाकृष्णन: रेलिजन एण्ड सोसाइटी—(४) ऋग्वेद-५, ७, ९, ३, ५५, १६, यजुर्वेद ८, ११, अथर्ववेद-११, ६)। प्रौढ़ावस्था प्राप्त विवाहित स्त्रियों को ही वेदांत संबंधित वाद-विवाद श्रवण करने का अधिकार था।

पुरुष बहु विवाह कर सकते थे पर स्त्रियों को केवल एक पति रखने का अधिकार था। परंतु यह बहु विवाह की प्रथा विशेषकर राजा महाराजाओं एवं ऐश्वर्यवान, वैभव संपन्न व्यक्तियों में सीमित थी। पर मर्यादा पुरूषोत्तम दशरथ कुमार राम ने एक स्त्रीव्रत को निबाहकर राज समाज एवं विभवशाली विषयी पुरूषों के समक्ष नया आदर्श उपस्थित कर दिया था।

ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख है कि श्वसुर की दृष्टि से पुत्र-वधुएँ अपने को बचाती थीं। उनसे अकस्मात् साक्षात्कार हो जाने पर वे अपने को छिपा लेती थीं। यह प्रथा वर्तमान मैथिल समाज में प्रचलित है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि पर्दा की प्रथा 'ब्राह्मण-युग' में भी किसी अंश तक विद्यमान थी।

इस प्रकार उपलब्ध विवरण जो प्राक् मिथिला के प्रशासन समाज एवं अर्थ को दर्शाते हैं। यह ध्वनित करते प्रतीत होते हैं कि प्रशासनिक दृष्टिकोण से जनतंत्र के आधार पर सामंती सभ्यता पनप रही थी। सामाजिक एवं आर्थिक जीवन एक उदारवादी सामंती पद्धति पर अपनी नींव रख रहा था। लेकिन विस्तृत होता हुआ आर्यावर्त चिंतन एवं मनन के क्षेत्र में मिथिला में पनपती हुई सामाजिक प्रशासनिक व्यवस्था में भी अपना आधार खोज रहा था। सिंध-पंजाब से पूरब की ओर बढ़ती आर्य संस्कृति अपने विस्तार के लिए राज्य विस्तार ही चिंतन और मनन को अपना आधार बना रही थी।

जनपद का सीमित क्षेत्र और चुनाव वादी प्रथा का राज्य-तंत्र इंगित करता दिखता है कि भविष्य बड़ा राज्य का है। लेकिन विस्तार होता हुआ आर्यावर्त अपनी एकता के लिए संस्कृति एवं सभ्यता को अपना आधार बनाता भी दिखता है। अनेकता में एकता ही भावना की जड़ प्राक् मिथिला के प्रशासनिक विकास की कथा में सिमटा हुआ मिलता है। मिथिला आर्यावर्त पश्चिम से पूरब के फैलाव सीमा रेखा खींचता हुआ बहुत दिनों तक दिखता है। अत: इसके ऐतिहासिक सांस्कृतिक विकास की जड़ में भविष्य में पल्लवित होता हुआ आर्यावर्त या वर्तमान भारत की एक सूत्रता की कहानी का रहस्य भी छिपा हुआ दिखायी देता है। □

साहित्य, देश और पत्रकारिता

डॉ. राममोहन पाठक

मैं यहाँ मूल रूप से, संक्षेप में, साहित्य के सरोकार की बात रखना चाहूँगा, वह भी साहित्य, पत्रकारिता और देश, तीन संदर्भों में। साहित्य और देश मूल में जुड़े हुए हैं, भले ही बाह्य रूप किसी वृक्ष की टहनियों जैसा हो। मूल एक है। एक से दूसरे को बढ़ने, फलने-फूलने की ऊर्जा और संस्कार मिलता है। भारतीय संदर्भ में साहित्य और देश का संबंध अत्यंत निकट का रहा है। पराधीनता काल में लिखे गये हिंदी और विविध भारतीय भाषाओं के साहित्य में यह संबंध और भी प्रगाढ़ दिखायी पड़ता है। पत्रकारिता ने इसे और भी मजबूती दी। सीमित साक्षरता और राष्ट्रभाषा की समस्या के कारण स्वातंत्र्योत्तर भारत में भारतीय साहित्य की क्षमता पूर्ण रूप में सामने नहीं आ सकी। फिर भी देश के राज कारण को साहित्य दिशा देता रहा है।

अनेक संदर्भो में देश की अपेक्षाएँ साहित्य से जुड़ी हैं। जो जननेता, राजनेता नहीं कर सकते वह साहित्यकार कर सकता है। जहाँ तक वे नहीं पहुँच सकते वहाँ तक वह पहुँच सकता है। मैथिली शरण जी गुप्त, जिनकी पुण्य स्मृति में जन्मशता समारोह हो रहा है, उनकी रचनाओं की पहुँच और उसकी अपील ही जन-जन तक क्या कम थी? गांधी जैसे जननेताओं ने जो जनजागरण किया उससे कहीं कम महत्व-पूर्ण कार्य हमारे साहित्य ने नहीं किया। यह विषय बहुत विस्तृत होगा। अस्तु, हमारा साहित्य जैसे कविता, कहानी आदि जन-जन के मन में गहरे पैठ चुका था, उसका देश के संदर्भ में बड़ा ही रचनात्मक महत्व रहा है।

'साहित्यकार क्रांतदर्शी या भविष्यदर्शी हो सकता है। जो साहित्य में प्रत्यक्ष है, जिसे सभी देख सकते हैं उसे देखना आगे देखना नहीं है।' देश के संदर्भ में, देश में व्याप्त प्रवृत्तियों के संदर्भ में यदि इसी कथन की दृष्टि रखी जाय तो सत्य प्रतीत होता है कि साहित्य और पत्रकारिता की प्रक्रिया कुछ वैज्ञानिक प्रक्रिया सी है और साहित्य के अनुमान भी समाज के सूक्ष्म संकेतों पर आधारित होते हैं और भावी समाज और देश की स्थिति के बारे में साहित्यकार देशज स्थितियों, परिस्थितियों और सामयिक वैचारिक अंतरधाराओं से जो कुछ ग्रहण करता है या जितना कुछ ग्रहण कर पाता है, वही उसकी कल्पनाशीलता का मूल आधार बनता है। यह बात दीगर है कि इन देशज परिस्थितियों और जीवन से साहित्य जो कुछ ग्रहण करता है उसे तर्कसंगत या वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित करना प्राय: संभव नहीं दिखायी देता। लेकिन देश की मिट्टी से कितना कुछ ग्रहण किया गया है या उसे किस रूप में प्रस्तुत

किया गया है, यह प्राय: आसानी से स्पष्ट हो जाता है। देश और समाज से कुछ ग्रहण करने और उसे अपने ढंग से देने या प्रस्तुत करने की छटपटाहट तथा अभिव्यक्ति को स्वतंत्रता के लिए अकुलाहट रचनाकार के लिए, चाहे वह पत्रकार हो या साहित्य की अन्य विविध विधाओं से जुड़ा हो, बहुत ही स्वाभाविक है। रचनाकार की रचना पूरे देश और समाज को प्रभावित करती है इसलिए उसकी पूर्ण स्वतंत्रता की ललक पूरे देश की रचना के स्वातन्त्र्य के विविध पहलुओं से जुड़ी है। मगर देश को, समाज को बदलने के लिए हमारा संपूर्ण रचनाकर्म स्वतंत्र नहीं है तो वह 'पूर्ण स्वतंत्रता' नहीं है। साहित्य के प्रभाव और रचनाकार की स्वतंत्रता की ललक को हम दुनिया भर की विविध क्रांतियों, भारतीय स्वाधीनता संग्राम के संदर्भ में देख चुके हैं।

मेरी मूल चिंता साहित्य और पत्रकारिता को लेकर है। पत्रकारिता 'लिटरेचर इन हेस्ट' (जल्दबाजी में लिखा गया साहित्य) तो है परंतु आज साहित्यिकता का निरंतर अभाव पत्रकारिता को क्षीण और दुर्बल बना रही है। हमारे देश की पत्रकारिता साहित्य से दूर होती जा रही है। भाषा, शैली, वर्तनी, प्रकाशित विषय और अन्यान्य दृष्टियों से पत्रकारिता का संदर्भ बदल गया है। देश हमारी हिंदी पत्रकारिता के मूल में रहा है। पर वह 'देश' आज कहाँ है। चरित्र निर्माण, प्रकाशित सामग्री के समाज पर प्रभाव जैसे विषयों पर पत्र और पत्रकारों को सोचने का अवसर ही नहीं है। साहित्य का पत्र-पत्रिकाओं से लोप क्या 'बड़ी चिंता' का विषय नहीं है? आज अच्छी कहानियाँ, निबंध, अच्छी कविताएँ, रिपोर्ताज आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्राय: नहीं दिखायी पड़ते। न इसके प्रति पाठकों का विशेष आग्रह ही दिखायी पड़ता है। इनमें रुचि रखने वाले पाठक हैं जरूर पर इनकी संख्या नगण्य है। ऐसी स्थिति में यह आशंका उठना स्वाभाविक है कि क्या कालांतर में पत्रकारिता से साहित्य का बिलकुल लोप ही हो जायेगा?

साहित्य की रचना और प्रेषणीयता का आधार देश की परिस्थितियाँ, मानसिक वृत्तियाँ और जीवन की सह अनुभूतियाँ हैं। साहित्य के मूल्य किसी भी देश के जीवन मूल्यों से भिन्न नहीं होते और साहित्यिक अनुभूतियाँ जीवन की अनुभूतियों से सिर्फ कुछ अर्थों में विशिष्ट होती हैं। पत्रकारिता का भी जीवन मूल्यों से सीधा संबंध है। जिन जीवन मूल्यों की स्थापना साहित्य में की जाती है उन्हें पत्रकारिता भी एक नया व्यावहारिक आयाम देती है। साहित्य का लक्ष्य लोकहित का साधन और लोक रुचि का परिष्कार भी है। यही लक्ष्य पत्रकारिता का भी है। द्विवेदीयुग तक पत्रकारों ने भी महावीरप्रसाद द्विवेदी जी से प्रेरणा लेकर सोद्देश्य साहित्य की रचना की और उसकी उपादेयता पत्रकारिता के माध्यम से संपादित हुई। साहित्य का मूल लक्षण प्रेषणीयता है और पत्रकारिता का मूल लक्षण भी भावों और विचारों का सटीक एवं व्यापक संप्रेषण है। देश और समाज की परिस्थितियों के अनुरूप साहित्य के लक्ष्य भी बदलते रहे हैं। हर युग में जीवन मूल्य बदलते हैं और उनके साथ ही साहित्य का उद्देश्य भी बदल सकता है। साहित्य और पत्रकारिता में कोई बुनियादी अंतर मैं नहीं समझता, अंतर है केवल शैली का। साहित्य काफी मनन, चिंतन के बाद लिखा जाता है लेकिन **पत्रकारिता शीघ्रता में लिखा गया साहित्य ही तो है। जब पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ और उनका प्रचार-प्रसार बढ़ा तो 'पत्रकारों का यह साहित्य' लोक रूचि का महत्वपूर्ण विषय बनने लगा।** पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने जिस शैली में साहित्य का सृजन किया वह इतनी प्रचलित थी कि पुराने ढंग की साहित्यिक शैली का अंत हो गया। देश की भाषा, शैली, और वर्तनी को बढ़ने का काम साहित्यकार और पत्रकार दोनों ही करते हैं। साहित्यकार प्राय: किसी खास विधा तक सीमित होते हैं। बिरले ही साहित्यकार होते हैं जो अनेक विधाओं में समान रूप से स्थापित हों, किंतु पत्रकार चूँकि अनेक विषयों पर लिखते रहते हैं, अत: उनका परिचय विभिन्न

विधाओं से होता रहता है। जार्ज बर्नाड शॉ ने कहा था—ऐसा कुछ भी साहित्य के रूप में बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता जो पत्रकारिता न हो। बर्नाड शॉ से असहमत होते हुए भी ए.जी. गार्डिनर कहते हैं कि—साहित्यकार ही अच्छा पत्रकार हो सकता है।

अतः स्पष्ट है कि श्रेष्ठ पत्रकार भी अच्छा साहित्यकार हो सकता है। जहाँ तक रचना के वातावरण और कथ्य का प्रश्न है समान अंतरों और विरोधाभासों के बावजूद देश कहीं न कहीं से पत्रकारिता और साहित्य दोनों के ही केंद्र में है। साहित्य और पत्रकारिता दोनों ही शिक्षण, सूचना, मनोरंजन और ज्ञान को सर्व सुलभ बनाने के दो महत्वपूर्ण साधन हैं। पत्रकारिता में जहाँ कल्पना का कोई स्थान नहीं है वहीं साहित्य में कल्पना एक प्रमुख तत्व है। पत्रकारिता के माध्यम से लेखों, कहानियों, कविताओं, संस्मरणों, यात्रावृत्तांतों, नाटकों, समीक्षाओं आदि के प्रकाशन द्वारा साहित्य की महत्वपूर्ण सेवा की गयी है। भारतेंदु काल से अब तक इसके अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं।

पत्रों का जन्म चाहे जिन उद्देश्यों को लेकर हुआ हो, विकास क्रम ने उनको ऐसी स्थिति में लाकर रख दिया है जिसमें किसी भी देश का पाठक वर्ग या जनता उनसे मनोरंजन ही नहीं, समाचार मात्र ही नहीं बल्कि पथ दर्शन की अपेक्षा रखती है। इस दृष्टि से श्रेष्ठ पत्रकारों की कोटि में जो पत्रकार आते हैं उनमें साहित्यिक पत्रकारों की संख्या सर्वाधिक है। जिस प्रकार साहित्य को देशज स्थितियों के प्रभाव से बिलकुल अलग-रखना संभव नहीं है, उसी तरह पत्र और पत्रिकाओं को हम इससे अलग नहीं रख सकते। साहित्य और पत्रकारिता की सबसे बड़ी प्रतिबद्धता अपने पाठकों के प्रति होनी चाहिए। देश, राष्ट्र या समाज का विकास शून्य में नहीं होता। विचारों का महत्व सर्वाधिक है। इन्हीं विचारों को अपनाकर, उनकी समीक्षा कर या किसी विचारधारा को अस्वीकृत करते हुए कोई भी देश अपनी भविष्य की दिशा निर्धारित करता है। महादेवी जी के शब्दों में—ज्ञान से अधिक कठिन उसकी संप्रेषणीयता है। यह कथन साहित्य और पत्रकारिता के गहन अंतर संबंध को प्रभावित करता है।

समाचार पत्र और पत्रकार भी साहित्य की तरह जीवन के विविध संदर्भों को उजागर और विश्लेषित करते हैं, उनका संस्कार कर विश्व संस्कृति के धारा में प्रवहमान करते हैं। इस महत्तर कार्य का संपादन करने वालों का क्षेत्र प्राचीन काल से ही अत्यधिक विस्तृत रहा है। 'सरस्वती' मासिक द्वारा साहित्यकारों के निर्माण का जो कार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया, पत्र-पत्रिकाओं ने विभिन्न प्रकार की जो साहित्यिक सेवा की आज के वातावरण में उसका अभाव है। हिंदी के साहित्यकारों, पत्रकारों द्वारा संपादित दैनिक एवं साप्ताहिक पत्रों में लगभग तीन-चार दशक तक हिंदी के प्रमुख साहित्यकारों की कृतियाँ स्थान पाती रहीं। पुस्तकों के अलावा पत्र-पत्रिकाएँ भी साहित्यिक रचनाओं और साहित्यकारों को प्रकाश में लाने का प्रमुख माध्यम रही हैं। हिंदी के पत्रकारों पर प्रमुख साहित्यकारों का बहुत गहरा प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है। किंतु हिंदी पत्रकारिता एवं साहित्य की दूरी बढ़ती जा रही है, जो हमारे देश की पत्रकारिता और हमारे साहित्य दोनों के लिए उचित नहीं प्रतीत होती। इस दूरी का प्रभाव हमारे देश की भाषा-स्थिति पर पड़ना स्वाभाविक है। साहित्य की विविध विधाओं के विकास के साथ ही भाषा के परिमार्जन, नये शब्दों के निर्माण, व्याकरण संबंधी मानदण्ड तथा साहित्य की आलोचना के मानदण्ड स्थिर करने की दिशा में हिंदी पत्रकारिता का जो विशिष्ट अवदान रहा है वह अब सिर्फ इतिहास की बात है। भाषा संबंधी जो अराजकता दिखायी पड़ रही है उसके लिये भी यह दूरी कम उत्तरदायी नहीं है। हिंदी पत्रकारिता पर अंग्रेजी के प्रभाव ने इस विकृति को और भी बल दिया है। जब नवमुक्त देश पर अंग्रेजी संस्कारों की नये सांस्कृतिक उपनिवेशवाद की काली छाया मंडरा रही हो तब हिंदी पत्रकारिता और साहित्य से ही इस दिशा में काफी कुछ आशा की

जा सकती है। हमारे देश की भाषा हिंदी सिर्फ अनुवाद की भाषा बनकर न रह जाय उसकी स्वतंत्र अस्मिता जागृत हो इसके लिये साहित्यकारों और पत्रकारों को बहुत मानसिक चिंतन, लेखन और श्रम करना होगा।

साहित्यकार और पत्रकार आज अलग-अलग वर्गों में बँटे हैं। 'अखबारी लेखन' को हेय सा समझकर उससे दूर भागने की जरूरत मैं नहीं समझता क्योंकि जो साहित्य आम जनता तक पहुँच रहा है, वह पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही पहुँच पा रहा है। साहित्यिक कृतियाँ तो कुछ गिने चुने अनुसंधित्सुओं, विद्यार्थियों या अध्यापकों तक ही पहुँच पाती है या पुस्तकालयों की आलमारियों की शोभा बढ़ाती हैं। क्रयशक्ति और समय के अभाव के साथ ही पाठकीय अभिरुचि का अपेक्षाकृत कम होना इसके कुछ अन्य कारग हैं किंतु मेरे विचार से पत्र-पत्रिकाओं में अच्छे साहित्य का प्रकाशन एवं अच्छी पुस्तकों की समीक्षा का प्रकाशन भी आवश्यक है। **'बड़े' साहित्यकार यदि पत्र-पत्रिकाओं को उदासीन मानते रहेंगे तो इससे साहित्य और पत्रकारिता दोनों की बड़ी क्षति होगी।** पत्रकारिता में आज भी स्मरणीय वही है जिसका कुछ साहित्यिक कृतियों का प्रकाशन आवश्यक है। लोक रचना पत्रकार का धर्म है, साहित्यकार का भी। पत्रकारिता ने आज अन्वेषण की प्रक्रिया (इन्वैस्टिगैटिव जर्नलिज्म) अपनायी है पर हमारे साहित्य में तो ऐसे तमाम उदाहरण मिलते हैं कि रचनाकारों ने 'जहां न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि' की उक्ति को चरितार्थ कर दिखाया है। लोकसाहित्य, लोकभाषा और साहित्यिकों की शब्दासाधना आज भी हमारी पत्रकारिता के लिए आदर्श बन सकती है। अतः देश, साहित्य और पत्रकारिता के आपसी संबंधों को और भी प्रगाढ़ बनाने में हमारे साहित्यकारों एवं पत्रकारों की भूमिका का महत्व स्वतः स्पष्ट है। □

नवाँ अखिल भारतीय नागरी लिपि सम्मेलन

अमरेंद्र मिश्र

मार्च महीने की 14 और 15 तारीखों के बीच राजधानी के कंस्टीट्यूशन क्लब में नवें अखिल भारतीय नागरी लिपि सम्मेलन का आयोजन किया गया। स्कूली बच्चों द्वारा प्रस्तुत वंदना के बाद अध्यक्ष डॉ. मलिक मोहम्मद ने मुख्य अतिथि केंद्रीय संचार मंत्री श्री रामनिवास मिर्धा का स्वागत करते हुए कहा, कि नागरी लिपि परिषद् पिछले बारह-तेरह वर्षों से प्रचार-प्रसार में लगी है। संत विनोबा ने नीति सम्मुख सुझाव रखा था कि नागरी लिपि ही एकमात्र समर्थ लिपि है, जो संपर्क या योग लिपि की भूमिका निभा सकती है।

अध्यक्ष महोदय ने एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कही कि आज देश में भाषा-लिपि को लेकर जो चर्चायें हैं उसके लिए यह जरूरी है कि कोई एक लिपि हो जो संपर्क-सूत्र का माध्यम हो और निश्चित रूप से वह लिपि नागरी लिपि ही होगी। इस लिपि की जाने कितनी ही विशेषतायें हैं। भारतीय भाषाओं के संदर्भ में तो निश्चित रूप से नागरी लिपि को अपनाया जाना चाहिए किंतु यूरोप में भी जितनी भाषायें हैं उनमें बहुत अधिक का सीधा संपर्क रोमन से है। रूस में कई भाषायें हैं और लिपि एक होने की वजह से ही वहाँ भाषाई एकता है। नागरी लिपि के माध्यम से कई भाषाओं को सीखा जा सकता है। इसे ध्यान में रखकर परिषद् ने कुछ पुस्तकें भीं प्रकाशित की है। नागरी लिपि में एक क्षमता है जो भावात्मक स्तर पर एकता ला सकती है—उत्तर में अपेक्षाकृत दक्षिण के, अंग्रेजी के प्रति मोह बहुत अधिक है—क्यों ? इसे दूर किया जाना चाहिए। उन्होंने बताया कि आज के यांत्रिक युग में भी यह लिपि सुगम है। यंत्रों के द्वारा हिंदी को बढ़ावा दिया जा सकता है। भाषा-लिपि के बीच जो मतभेद हैं या हो सकते हैं, उन्हें नागरी लिपि ही दूर कर सकती है। गांधी जी बताया करते थे कि नागरी और फारसी की दौड़ में नागरी ही आगे आयेगी—गांधी जी ने लिपि को लेकर कोई समस्या खड़ी नहीं की।

इसके बाद अध्यक्ष महोदय ने वक्ताओं, श्रोताओं, आंगत विद्वानों के प्रति आभार प्रकट किया।

केंद्रीय संचार मंत्री श्री रामनिवास मिर्धा ने सम्मेलन का उद्घाटन करत हुए कहा कि यह आवश्यक है कि नागरी लिपि को अन्य भारतीय भाषाओं के समक्ष एक सक्षम लिपि माना जाये। संत विनोबा जी यही चाहते थे। यह एक प्राचीन वैज्ञानिक लिपि है और विश्व के भूगोल का एक विस्तृत भाग इस लिपि से परिचित है। भारतीय भाषाओं को आगे बढ़ाने के लिए नागरी लिपि को सह-लिपि के रूप में

अपनाया जाना चाहिए और यह कोशिश की जानी चाहिए कि अहिंदी भाषा-भाषी हिंदी सीखें और हिंदी वाले दूसरी भाषायें भी सीखें। हिंदी 'थोपने' या 'लादने' वाली बात नहीं है। बल्कि यह एक स्वतः स्फूर्त्त प्रेरणा है कि नागरी लिपि को योग-लिपि और सह-लिपि के रूप में स्वीकारा जाये। यह स्थूल नहीं मानी जाये। कंप्यूटर, विज्ञान की प्रगति में नागरी लिपि को भी स्वीकारा जाये। श्री मिर्धा ने आश्वस्त किया कि नए-नए संयत्र आ रहे हैं, उन पर हमारा विभाग विचार कर रहा है। कंप्यूटर के मामले में भी विचार-विमर्श चल रहा है। नागरी को आगे बढ़ाने के लिए दूसरी भाषाओं से संकेत लें—जोड़ें उस पर भी हमें विचार करना है। इसमें पूर्ण सहयोग की अपेक्षा है और ऐसे कार्य परिषद् जैसी स्वयंसेवी संस्थायें ही कर सकती हैं।

श्री पी.के. थुंगन (सांसद) ने बताया कि इस सम्मेलन में वे एक संसद सदस्य की हैसियत से नहीं बल्कि एक समाज सेवी के रूप में सम्मिलित हुए हैं। उन्होंने बताया कि भारत वर्ष में बहुत सारी भाषायें हैं और वे अधिकतर नागरी लिपि में ही हैं। असम में भाषा-आंदोलन चला था जिसमें कौरव भाषा ने लिपि की तलाश की और उनके स्वीकार में नागरी लिपि ही आई किंतु हमारी आधुनिक मानसिकता गुलामी में जकड़ी है कि हम अंग्रेजी का आदर करते हैं और हमारे भीतर अंग्रेजीयत घर कर गयी है। श्री थुंगन के अनुसार भारत में कई भाषायें हैं और यह कोशिश जारी है कि अपने-अपने क्षेत्र की जो भाषा है, वह अतिरिक्त रूप में किस प्रकार स्वीकार हो। हम स्वतंत्र हैं कि हमें किस भाषा का प्रयोग करना चाहिए किंतु सामाजिक व्यवहार के साथ-साथ हमें नागरी को प्राथमिकता देनी चाहिए। यह इसलिए भी, क्योंकि राष्ट्रीय-एकता के कई मार्ग हैं। उनमें एक नागरी लिपि है, हो सकती है। श्री थुंगन ने बताया कि 'बोरो' नाम की भाषा नागरी लिपि में है। भाषा एक औजार है जो कई चीजों को निकट लाती है। जब हम नागरी की चर्चा करते हैं तब हिंदी का स्वरूप हमारे समक्ष स्वतः आ जाता है।

श्री थुंगन ने इस बात पर अधिक जोर दिया कि कोई भी भाषा, संस्कृति-परंपरा के बिना नहीं चल सकती। सरकारी स्तर पर एक भाषा को परंपराबद्ध नहीं कर सकते।

श्री पुरुषोत्तम गोयल ने भाषा-लिपि को और निकट लाते हुए बताया कि सांस्कृतिक विविधता में एकरूपता होनी चाहिए। नागरी लिपि परिषद् का यह उद्देश्य है कि उनकी लिपिकों का 'मानकीकरण' हो। मूल अभिव्यक्ति होते हुए भी एकरूपता होनी चाहिए—मानक लिपि के लिए भी। आज 'ऐ' दो तरह से लिखा जाता है। इसलिए 'अे' का मानकीकरण हो यह बहुत जरूरी है। हिंदी और अधिक सार्थक-सशक्त तभी होगी जब और अधिक शब्द इसमें लिए जायें।

इस सत्र की अध्यक्षता डॉ. अक्षयकुमार जैन ने की। उन्होंने अपने वक्तव्य में नागरी लिपि की पुरातनता पर विचार करते हुए कहा कि वेद साढ़े तीन हजार पहले लिखे गए थे। यानी तब भी नागरी लिपि मौजूद थी। मराठी, संस्कृत, नेपाली, गोरखा, गुजराती की लिपि यही है। अरूणाचल प्रदेश की 'बोरो' की लिपि भी नागरी ही है। हिंदी भाषी भी दूसरी भाषाओं को अगर नागरी लिपि में पढ़ें तो यह और भी अच्छी बात होगी। नागरी लिपि में अन्य भाषायें होंगी। नागरी लिपि में अन्य भाषायें आयें तो यह और भी अच्छी बात होगी।

डॉ. गंगाप्रसाद विमल ने नागरी लिपि परिषद् की उपलब्धियों को रेखांकित करते हुए कहा कि नागरी की सार्थकता आज कितनी अधिक है, यह स्वतः सिद्ध है।

दूसरे सत्र में चाय पान के बाद **भावात्मक एकता और नागरी लिपि** शीर्षक विषय की अध्यक्षता डॉ. विजयेंद्र स्नातक ने की। चर्चा में भाग लेते हुए श्री यशपाल जैन ने देश-विदेश में साहित्य पर देवनागरी लिपि में हो रहे कार्यों की ओर संकेत किया और संत विनोबा के नागरी लिपि विषयक

विचारों के प्रकाश में इसकी प्रगति को जाँचने का आग्रह किया।

कनार्टक से आए विद्वान श्री नारायण ने बताया कि लिपि का सवाल लिखित भाषा का सवाल है। नागरी लिपि अधिक उच्चारण शील है और उसे परिपूर्ण तथा संपूर्ण बनाने के लिए नित नए साधनों का उपयोग आवश्यक है क्योंकि नागरी अगर परिपूर्ण नहीं है तो कोई भी लिपि परिपूर्ण नहीं हो सकती।

डॉ. मधुकर ने नागरी लिपि परिषद् की उपलब्धियों का जिक्र करते हुए बताया कि भावात्मक एकता की जब बात होती है तब उसका अर्थ 'राष्ट्रीयता' होता है अत: नागरी लिपि को 'जन-लिपि' के रूप में स्वीकारा जाना चाहिए। दक्षिण भारत का योगदान नागरी लिपि के संदर्भ में उल्लेखनीय है। हिंदीतर भाषाओं में जो साहित्य रचा जा रहा है उसे समझने के लिए भी नागरी लिपि का सहारा लेना चाहिए।

सुप्रसिद्ध भाषाविद् विद्वान, लेखक डॉ. प्रभाकर माचवे ने बताया कि नागरी लिपि के द्वारा गुजराती, संस्कृत, मराठी, नेपाली भाषायें सीखी जा सकती हैं। सभी लिपियों का मूल ब्राह्मी लिपि में है और अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने के लिए नागरी लिपि की अधिक सार्थक भूमिका है। डॉ. माचवे ने कहा कि राहुल जी ने बताया था कि हिंदी का भविष्य अधिक उज्जवल है क्योंकि यह भारत के जन-जन की भाषा है।

अध्यक्षीय भाषण देते हुए डॉ. विजयेंद्र स्नातक ने कहा कि 'रोमन लिपि' के समर्थकों की संख्या हजारों में तो हो सकती है किंतु लाखों में नहीं हो सकती। अगर 'जनमत' इकट्ठा करें तो भी रोमन के पक्षधर अधिक नहीं होंगे यह मेरा विश्वास है। रोमन लिपि ने विकृतियाँ अधिक पैदा की हैं। 'अशोक' को 'अशोका' और 'कनिष्क' को 'कनिष्का' इसी लिपि ने बनाया है अत: शब्दों के मर्यादित रूप के लिए हमें अधिक 'सचेत' होने की जरूरत है। श्री पुरुषोत्तम दास टंडन बताया करते थे कि हिंदी और उर्दू अलग-अलग नहीं हैं किंतु दोनों भाषाओं की लिपि एक कर दी जाये तो अंतर मिट जायेगा। डॉ. स्नातक ने कई भाषाओं के साहित्य को देवनागरी में होने पर जोर डाला।

चौदह मार्च की सांध्यकालीन संगोष्ठी में 'संपर्क लिपि के रूप में नागरी' विषय पर विचार विमर्श हुआ। इस सत्र में भाग लेते हुए डॉ. मोती लाल जोतवाणी ने नागरी को ही संपर्क लिपि के रूप में अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया। डॉ. उमाशंकर सतीश ने बताया कि नागरी लिपि की और अधिक सरल बनाए जाने की जरूरत है उन्होंने परिषद् द्वारा प्रकाशित 'स्मारिका' से अपने निबंध के प्रमुख अंशों को पढ़कर सुनाया। गोरखपुर कॉलेज के डॉ. पाठक ने सुझाव दिया कि संपर्क लिपि के रूप में नागरी किस प्रकार विकसित हो, इस पर ध्यान देने की अधिक जरूरत है। भाषा और लिपि सीखने की अनिवार्य आवश्यकता है। ऐसी लिपि जो भारतीय भाषाओं को सीखने में सक्षम हो, उसे निर्द्वंद्व भाव से अपनाया जाना चाहिए।

डॉ. श्याम सिंह 'शशि' ने नागरी लिपि को चित्र और श्रुति दोनों के माध्यम से अपनाए जाने पर जोर दिया। इस लिपि को समृद्ध बनाने में आधुनिक संयत्रों की भूमिका पर भी डॉ. शशि ने विचार प्रकट किए।

इस सत्र में नागरी लिपि को कम से कम अवधि एवं वैज्ञानिक ढंग से सिखाए जाने की एक विशिष्ट विधि की सोदाहरण व्याख्या करते हुए विद्वान लेखक, कवि डॉ. उमादत्त शर्मा 'सतीश' ने प्रकाश डाला जो अपने ढंग का एक नया विवेचन था।

दूसरे दिन के सत्र की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध हिंदी कवि और चिंतक श्री गिरिजा कुमार माथुर ने की। उन्होंने कहा कि अक्षर से शब्द बनते हैं। शब्द शक्ति हैं। उन्होंने अनुवाद-कर्म के द्वारा नागरी लिपि के

विकास पर जोर दिया। श्री माथुर ने बताया कि बिना अनुवाद के किसी भी देश का साहित्य समृद्ध नहीं हो सकता। उन्होंने नागरी लिपि की नयी विकासशील परंपरा पर जोर दिया और बताया कि इस लिपि में दूसरी भाषाओं की ध्वनियाँ भी जा सकती हैं। डॉ. वाकणकर ने अपना मत प्रकट करते हुए इस बात पर जोर दिया कि नागरी लिपि के विकास में कंप्यूटर की कोई उपयोगिता नहीं है। यह सर्व सुलभ नहीं है। सामान्य लोगों के लिए इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। यह बड़े न्यूज पेपर्स और सरकारी तंत्र में ही उपयोगी हो सकता है। इसके बदले तीन शिफ्ट का टाइपराइटर होना चाहिए। प्रांतीय लिपियों का प्रयोग अनिवार्य है। डॉ. पाण्डेय ने बताया कि सम्मेलन में तत्काल चार-पांच लोगों की एक समिति बनायी जानी चाहिए जो कुछ प्रमुख मुद्दों की ओर अपना ध्यान दे—(१) नागरी लिपि का मानक रूप (२) भारतीय संविधान में जितनी भाषायें हैं, वे जब तक अलग-अलग लिपियों में लिखी जाती रहेंगी तब तक भावात्मक एकता नहीं आ सकती—लिपि की एकरूपता अत्यंत आवश्यक है। लिपि की समस्या के कारण ही साहित्य अपनी सीमा में कैद है। लिपि की विभिन्नता देश की एकता को भी खण्डित करती है। भाषा का संबंध भावना से जुड़ा होता है, वह आरोपित नहीं हो सकती, इसलिए नागरी लिपि ही हमें एक सूत्र में बाँध सकती है।

आंध्र विश्वविद्यालय में रीडर डॉ. मुहम्मद इकबाल ने बताया कि भारतीय भाषायें जो अनुवाद के माध्यम से हम तक पहुँच रही हैं, उनकी लिपि नागरी होनी चाहिए। संयुक्त ध्वनि चिह्न में अभी भी एकरूपता नहीं आई है। उसमें एकरूपता आनी चाहिए। तमिल भाषाविद् श्री विश्वंभरम् ने कहा कि नागरी लिपि को योग-लिपि में बदल देने पर ही भारतीय भाषाओं का साहित्य एक हो सकता है। तमिल अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। मलयालम का क्षेत्र भारत की कई भाषाओं से भिन्न है। ऋगवेद, भारत की जो स्वस्थ एवं प्राचीन परंपरा है वह मलयालम से ही शुरू हुआ था। केरल साहित्य का नागरी में अनुवाद हुआ है। श्री विश्वंभरम् ने ही १९८० के बाद की 'आधुनिक मलयालम कविता' का अनुवाद नागरी लिपि में किया है।

दोपहर बाद 'लिपि और लिप्यंतरण, पर चर्चा हुई जिसमें विद्वान डॉ. मदनलाल, डॉ. ओमप्रकाश शर्मा और शीला (जर्मनी) ने भी हिस्सा लिया। इन विद्वानों ने नागरी को विश्व नागरी बनाने पर जोर दिया और संकेत किया कि विदेशी भाषा का साहित्य जब हमारे यहाँ आए तो लिपि नागरी हो किंतु वहाँ की संस्कृति हमारे देश में न आए। लिपि की आधुनिकता के संबंध में विचार करते हुए इन विद्वानों ने प्राय:एकमत से यह स्वीकार किया कि लिपि के विकास के लिए नए-नए प्रयोग अपेक्षित हैं किंतु साहित्य को आधुनिकता से अलग कर देखा जाना चाहिए।

विषय प्रवर्तन करते हुए डॉ. गंगाप्रसाद विमल ने बताया कि हमारा देश २१ वीं सदी में जाने की तैयारी कर रहा है। किंतु हमें उससे घबराना नहीं चाहिए। क्योंकि भाषा और लिपि तब भी रहेगी। जब बल्गारिया का अधिकांश बजट 'संस्कृति' के ऊपर व्यय होता है, तो हमें यह देखना है कि अपने उद्देश्य में हम कहाँ तक सफल हैं?

अंत में इस द्विदिवसीय सम्मेलन का समापन स्कूली बच्चों द्वारा प्रस्तुत प्रार्थना 'ओम् तमसो मा सद्गमय' से हुआ। डॉ. मलिक मोहम्मद ने नागरी लिपि पर संगोष्ठी विषयक विचार प्रस्तुत किए और डॉ. विमल ने प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। विद्वान डॉ. प्रभाकर माचवे ने नागरी लिपि की व्यावहारिकता पर अपने विचार प्रस्तुत किए। उन्होंने कहा कि ब्राह्मी के बाद नागरी लिपि आई। उन्होंने सुझाव दिया कि लिपि पर ओझा जी की पुस्तक का पुन: प्रकाशन होना चाहिए। एक त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन होना चाहिए। मीडिया का उपयोग—दूरदर्शन, फिल्म, रेडियो के द्वारा नागरी लिपि का विकास, और ४०० पृष्ठों का एक कोश निकाला जाना चाहिए जिसमें नागरी लिपि प्रयुक्त हो। डॉ. प्रभाकर माचवे की

साहित्यिक उपलब्धियों की चर्चा करते हुए श्री कुलानंद भारतीय ने उनकी सराहना की और बताया कि माचवे जी का अनुभव व्यापक है। नागरी लिपि ही एक ऐसी लिपि है जो संपूर्ण देश को एक सूत्र में बाँध सकती है। उर्दू, पंजाबी, बंगला, तेलुगु सभी एक लिपि में प्रयुक्त हों तभी देश की एकता सुदृढ़ होगी और भाषागत कठिनाई दूर हो पाएगी। उन्होंने बताया कि वे पिछले ३० वर्षों से राजनीति में हैं लेकिन राजनीति से अलग होकर जब कभी साहित्य, भाषा, लिपि के विषय में सोचते हैं तब उन्हें अधिक संतोष मिलता है। डॉ. मलिक मोहम्मद की उपलब्धियों और उनकी कार्यशीलता का स्मरण करते हुए मुख्य कार्यकारी पार्षद (शिक्षा) ने बताया कि वे उत्तर और दक्षिण को जोड़ने का काम करते रहे हैं। नागरी लिपि वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक लिपि भी है—बच्चा जन्म से ही 'अ' 'आ' शुरू करता है। रचना स्वांतःय सुखाय होनी चाहिए—आरोपित नहीं। मेरी किताबों में कहीं राजनीति नहीं है क्योंकि साहित्य एक स्वतंत्र चीज है।

अंत में श्री भारतीय जी ने सबका आभार प्रकट किया।

परिषद् के सचिव श्री मेनन जी ने विनोबा जी और गांधी जी के मूल वाक्यों को दुहराते हुए सबके सहयोग की कामना की और बताया कि जिस प्रकार हमारे हाथ में पाँच अंगुलियाँ हैं उसी प्रकार पाँच शक्तियाँ हैं—जन शक्ति, बुद्धि शक्ति, धन, सरकार और समाज सेवक। ये पाँचों शक्तियाँ मिलकर काम करेंगी तभी काम अधिक सार्थक होगा।

इस प्रकार दो दिनों का यह सम्मेलन नागरी लिपि के विकास और उसकी प्रगति के लिए किए जा रहे और किए जाने वाले सकारात्मक संकल्प के साथ संपन्न हुआ। □

पुस्तकें

'अंतरंग' की प्रासंगिकता

रामेश्वर प्रेम एक सुलझे हुए नाटककार हैं। उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण रंग-प्रस्तुतियाँ हिन्दी जगत को दी हैं। 'अंतरंग उसी कड़ी का महत्वपूर्ण पड़ाव कहा जायेगा। 'पड़ाव' इसलिए कि एक कृति अपने ही अर्थ में कुछ ऐसे प्रभाव छोड़ती है कि उसे हम दूसरी कृति से अलग मानने के लिए विवश होते हैं। यद्यपि सृजन जगत में ऐसे चमत्कार कभी-कभी ही घटित होते हैं। क्योंकि अधिसंख्य रचनाकार अपने आपको दुहराते चलते हैं। इस दृष्टि से 'नाटक' बहुत ही चुनौती पूर्ण माध्यम है। यदि नाटककार बार-बार अपने विषय और कला-कौशल को दुहराने लगे तो दर्शक उसकी रचनाओं से ऊब जायेंगे और अपने अनुभाव जगत में कुछ भी न हासिल करने के भाव से पीड़ित होंगे। अत: एक साथ चुनौतीपूर्ण कार्य होते हुए 'नाट्य' लेखन बहुत ही जागरूकता की अपेक्षा भी रखता है। हमारे यहां पुराकथाओं को आधार बनाकर असंख्य नाटक लिखे गये होंगे परंतु उन सब नाटकों को मूल कथा से कुछ विशिष्ट मानने को कोई आधार नहीं दीख पड़ता लिहाजा पुराणों पर आधारित नाटकों की अपेक्षा मूल कथांश अधिक रूचिकर, आकर्षक और अर्थमय होता है। इसलिए 'अतीत' को आधार बनाकर लिखे गये नाटकों में यदि 'मौलिकता' का आधारभूत तत्व किसी रूप में उपस्थित नहीं तो उसे मात्र अनुवाद या चोरी ही कहा जायेगा। यह मौलिकता 'विषय' को (जो परिचित एवं जन-चेतना में एक सूक्ति के रूप में विद्यमान रहता है) न केवल नये अर्थों से भरती है अपितु उसे उस ऐसी अंतदृष्टि से संपन्न करती है जिसके द्वारा परिचित कथा में आश्चर्य, सत्य और यथार्थ का नया रूप आ जाता है। आश्चर्य पहले पहल तो परिकल्पना या फैंटेसी का निर्माण करता है परंतु वही विस्मय बाद में सत्य की प्रतीति के लिए जरूरी होता है। 'अंतरंग' में विस्मय के कई स्तर हैं। अशोक के युग में भ्रष्टाचार, व्यक्तिवाद तथा राजा या निरंकुश सत्ताधारी की सीमाहीन आकांक्षा का चित्रण इस रूप में निश्चित ही विस्मित करता है कि सत्ताधारी यदि महत्वाकांक्षी है, तो वह अपनी आकांक्षा की पूर्ति के लिए समग्र सत्ता का उपयोग करेगा, यहीं से भ्रष्टाचार का आरंभ होता है। इसी तरह दूसरे अनेक स्थलों पर **रामेश्वर प्रेम** ने एक सृजनशील नाटककार की तरह 'मौलिकता' की वह तात्विक उपस्थिति दी है जो अन्यत्र अनुपलब्ध है।

इस नाटक में 'तिष्यरक्षिता' का वह पारंपरिक चरित्र नहीं दिखाया गया है जो अन्य ग्रंथों यथा नाटक आदि में एक ही तरह का है। कहना न होगा कि रामेश्वर प्रेम की 'चरित्रों' को नये ढंग से प्रस्तुत

करने का अपना अलग ही स्वप्न है। अंतरंग में नाटककार ने गीत, संगीत का जो शैलीगत प्रयोग किया है वह मूल कथा के ऐतिहासिक स्वरूप को भी पुष्ट करता है तथा रंगकर्मियों के लिए एक विकल्पायाम भी प्रस्तुत करता है।

एक प्रश्न यह उठता है कि समसामयिक क्रूरताओं को प्रदर्शित करने के लिए किसी 'मिथक' या 'पुराकथा' की आवश्यकता रंगकर्मियों को क्यों पड़ती है? इसके दो उत्तर पहले ही उपलब्ध हैं। एक तो प्रतिश्रुत कथा लोकमानस में पहले ही विद्यमान होती है, उसका अपने ही ढंग का प्रभाव मन पर पड़ा रहता है तथा वह हमारे शील-सदाचार के आदर्शों का प्रतिमान भी होता है। उसमें जब कोई समसामयिक समस्या प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती है तो सहज ग्राह्य होती है परंतु रामेश्वर प्रेम ने एक नया ही आयाम इसे दिया है। उनका कथन है कि 'मुझे अपना समय ही इतिहास में ले जाता है। उस इतिहास में, जिसमें मुझे अपना समय दीखता है, मुझे अपनी ओर खींचता है।' इसी आधार भूमि में इस नाटक की रचना हुई है। इतिहास के उपयोग में 'सनातन' का जो भाव है वह अन्यत्र महत्वपूर्ण है। वह नयी आशावादिता, संघर्ष और विरोध के बीच एक स्वप्निल संसार की प्रतीति देता है।

यहाँ बहस की जा सकती है कि जिन-जिन लोगों ने ऐतिहासिक कथाओं का सुस्पष्ट अनुवाद मात्र किया है क्या उन्होंने कोई सृजनात्मक प्रयत्न भी अपने अनुवाद में शामिल किया है? हिन्दी में इतिहास का दोहन बहुत ज्यादा हुआ है। रामकथा, कृष्णकथा, महाभारत और पुराणों का इन दिनों जो अनुवाद-सा हो रहा है। वह प्राचीन व्यासपीठों के स्थान पर अपना अपना नाम देकर लेखक 'चोरी' को न्यायसंगत-सा कार्य मनवा रहे हैं। ऐसी चोरी का न तो कोई साहित्यिक महत्व है न ही इसका कोई मिथकीय महत्व। इस का प्रयोजन केवल व्यावसायिक आवश्यकताओं के आगे झुक जाना है। **रामेश्वर प्रेम** की रचना पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता क्योंकि विषय की अंतर्दृष्टि तथा शैली के नये प्रकारों के कारण इस कृति में एक प्रतिश्रुत कथा के भीतर अनेककामी जीवन घूमता रहता है।

'अंतरंग' मंच पर प्रस्तुत किया गया है। और एक नाटक की कसौटी ही यह है कि वह मंच दर्शकों के संमुख खरा भी उतरा है। निस्संदेह अंतरंग इस परख में सर्वोत्तम रहा है। अंतरंग में रामेश्वर प्रेम ने नाट्य कला का जो प्रयोग किया है, वह भूत और वर्तमान के मिश्रण में भविष्य की सूचना देता है। मेरे विचार में इसे भविष्य का नाटक मानना उचित होगा।

— गंगा प्रसाद विमल

अंतरंग (नाटक) रामेश्वर प्रेम, राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी रोड, दिल्ली-२
मूल्य—२५ रुपये, पृष्ठ—६१.

भाषा और शिल्प का उपन्यास
काली सुबह का सूरज

रामधारी सिंह दिवाकर का यह दूसरा उपन्यास देखने में आया है। पहले उपन्यास में यदि लेखक अपनी छवि का प्रदर्शन करता है तो दूसरी में वह अपनी छवि की स्थापना का कार्य संपन्न करता है।

स्पष्ट है कि दूसरी कृति में वह अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ होता है। 'परंतु' रामधारी सिंह दिवाकर की इस कृति को पढ़कर लगता है कि यह भी उनके पहले उपन्यास की तरह ही एक जैसे ग्रामीण परिवार को पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं। इस उपन्यास की अनेक छवियाँ, भाषाई बिंब यहां उभरकर प्रस्तुत हुए हैं।

'काली सुबह का सूरज' की कथा इतनी ही है कि नरेंद्र नामक नायक थोड़ा पढ़ लिखकर शहर आ जाता है और अपनी मनपसंद लड़की से विवाह कर अपने घर परिवार के प्रति एक बीमार मानसिकता वाले भाव से विरक्त हो जाता है। यह क्रूरता जहां बेहद स्वार्थ से भरी है वहीं इसमें कहीं भी अपनी परिस्थितियों से विरोध करने की वह संघर्ष कामना नहीं है जो उपन्यास को एक नया अर्थ दे सकती थी। नरेंद्र अपनी पत्नी के इशारों पर चलता पिता के प्रति भी श्रद्धा नहीं रखता और गाँव जाने पर यह कामना करता है कि वे मुक्त हो जायें। कमोवेश यही कामना उसके मन में दूसरों के प्रति है। उपन्यास के इस पात्र में निष्क्रियता, स्वार्थ, अहंमन्यता के तत्व हैं। यह सही है कि उसके चरित्र में कुछ कमजोरियां हैं तथापि उन्हीं का यथारूप विवरण औपन्यासिक ढाँचे को बेहद एकरस बना डालता है। दुर्घटनाओं और त्रासदियों से भरे इस उपन्यास में वह भाव उभरता ही नहीं है जो मानव करुणा को व्यंजित कर सके। यद्यपि इस कथासूत्र में सिरीनाथ जैसे सशक्त चरित्र भी है जो समाज को बदलने में अपनी विनम्र भूमिका निरंतर अदा करता है। परन्तु समग्र उपन्यास में उसका चित्रण बहुत संक्षिप्त है।

किसी उपन्यास के मूल्यांकन की मुख्यतः दो ही विधियाँ हो सकती हैं : एक तो शास्त्रीय पैमाने पर उसे मूल्यांकित किया जाय या उपन्यास में वर्णित वस्तु और सामाजिक यथार्थ के आधार पर एक विश्लेषणपरक दृष्टि से उसका मूल्यांकन किया जाये। शास्त्रीय या अकादमीय दृष्टि से यह उपन्यास उन सभी विशेषताओं से भरा है जिनका सामान्य रूप से जिक्र किया जाता है। यदि हम उपन्यास की अंतर्वस्तु के संदर्भ में इसका विश्लेषण करें तो पायेंगे कि चरित्रों का अंकन पूर्ण नहीं है। कथा जैसे एक फार्मूले के अंतर्गत रची हुई हो। नरेंद्र या विभा के जीवन प्रसंगों के बीच चलती कथा में लगभग सभी मोड़ संभाव्यता की परिधि में आते हैं। इसी प्रकार यदि हम अन्य पक्षों का भी विश्लेषण करें तो उपन्यास के मूल्यांकन के उन्हीं निष्कर्षों पर पहुचेंगे जिनका संकेत पहले कर चुके हैं।

रामधारी सिंह दिवाकर के पास उपन्यास की एक अच्छी भाषा है। कुछ बिंबों में दुहराव अवश्य लगता है तब भी भाषा के द्वारा वे परिवेश में व्याप्त भाव को अच्छी तरह पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार बहुत ही अदृश्य सी स्थितियों में भी वे मर्म को भाषा के द्वारा आसान तरीके से व्यक्त कर डालते हैं। 'जाड़े के मौसम में घर कुछ ज्यादा सहमा-सिकुड़ा और गमगीन दिखता था। सुबह देर तक घना कोहरा छाया रहता। कोहरे में घर की आकृति एकदम डूब जाती थी। फटते कोहरे के धुंधलके में पूरब दिशा में उठा हुआ निस्तेज सूरज चाँद की तरह चमकने लगता था। घर डूबते जहाज के मस्तूल की तरह दिखायी पड़ता था। घने कोहरेवाली वैसी सुबह में दालान के घूरे के पास बैठी माँ सफेद सूनी चादर ओढ़े ऐसी दिखती थीं जैसे पत्थर की मूर्ति हो। परिवार में विचित्र-सी चुप्पी छायी रहती। (पृ० ६४)। भाषा के इस गुण के परिप्रेक्ष्य में ही कहा जा सकता है कि रामधारी सिंह दिवाकर उपन्यास के शिल्प के विज्ञ लेखक हैं।

—गंगा प्रसाद विमल

काली सुबह का सूरज (उपन्यास), रामधारी सिंह दिवाकर, भारती भण्डार, *इलाहाबाद, मूल्य—२५ रुपये, पृ०—१०१.*

बोलीवार : एक महाद्वीप : एक निर्माता

आज़ादी की तड़प

जर्मनी के विश्व प्रसिद्ध कवि गेटे का कथन है कि इतिहास से यदि हम कोई बढ़िया बात सीख सकते हैं तो वह है उत्साह—जीवन के प्रति उत्साह!

यह भी सही है कि जो महान पुरूष इतिहास बनाते हैं, उनके पास लिखने का समय नहीं होता।

कारलायल के अनुसार जीवनी ही सच्चा इतिहास है। दक्षिण अमेरिका के बोलीवार पर यह बात सही अर्थों में लागू होती है। उनका जीवन मध्य अमेरिका की दक्षिणी सीमाओं से चिले और अर्जेंटीना की उत्तरी सीमाओं तक, एन्देस होते हुए पैसेफिक से ब्राजील की अमाजेनियन सीमाओं तक और अटलांटिक व कैरिबियन तटीय सीमाओं के मध्य के विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र में फैला हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक बोलीवार की जिंदगी और उपलब्धियों का महत्वपूर्ण परिचय देती है। कोई भी शांतिप्रिय, मानवता का समर्थक बोलीवार के जीवन, आदर्शों तथा विचारों की प्रशंसा किये बगैर नहीं रह सकता विशेषकर आज के तेज़ी से बदलते शस्त्रों की होड़ के युग में।

किसी भी देश को स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए अनवरत प्रयास, अनगिनत बलिदान तथा सतत् संघर्ष करना पड़ता है। ठीक ३०० वर्ष हेतु (१५२०-१८२०) लातीनी अमेरिका पर स्पेन का प्रभुत्व रहा। उधर १८०० के शुरू से क्रांति की चिंगारियाँ उठने लगीं। ऐसे समय में एक युग निर्माता मंच पर अवतरित हुए। उनका नाम था बोलीवार। उनके मन में स्वतंत्रता प्राप्त करने की अदम्य इच्छा थी। कहते हैं, बोलीवार २०० से भी अधिक युद्धों में लड़े। प्रायः विजयश्री ने उनके कदम चूमे। उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था अपनी मातृभूमि को आज़ाद कराना। वे इसमें सफल रहे। गुलामी की जंजीरे टूट गयीं।

युग पुरूष बोलीवार को जनमानस से बेहद लगाव था। उन्हें 'मुक्तिदाता' की उपाधि दी गयी। वे महान् राष्ट्रवादी से बढ़कर भविष्यवक्ता थे। उन्होंने नवराष्ट्र हेतु नयी सरकार के गठन से लेकर दासता-उन्मूलन तक प्रत्येक सुधार किया। उनकी तमाम जिंदगी लातीनी अमेरिका एकता तथा विश्व-शांति तथा भाईचारे को समर्पित थी। वे सारे विश्व को 'संयुक्त विश्व' के रूप में देखना चाहते थे।

इस पुस्तक को तीन हिस्सों में बाँटा गया है—(क) लातीनी अमेरिका पर स्पेनिश आक्रमण और नियंत्रण तथा उसके खिलाफ़ संघर्ष के इतिहास की सूक्ष्मता, (ख) बोलीवार के जीवन, उनकी उपलब्धियों, संघर्ष में उनकी भूमिका और उनकी विचारधारा का विवरण तथा (ग) बोलीवार के बाद की लातीनी अमेरिकी परिस्थितियों की विवेचना तथा सर्वथा नवीन ढंग से वास्तविकता का मूल्यांकन और विश्व समस्याओं का हल। इसलिए यह किताब न केवल लातीनी अमेरिका इतिहास और समाज के विद्यार्थियों के लिये बल्कि हरेक सजग नागरिक के लिये है, जो विश्व-शांति और भाईचारे में विश्वास रखता है।

सुस्निग्ध दे जी ने बोलीवार को अमेरिका का 'महात्मा गांधी' माना है। २४ जुलाई १९८३ को बोलीवार की दूसरी जन्म-शताब्दी मनायी गयी। भूमि-सुधार, शिक्षा, सामाजिक विषमताओं और कुरीतियों का अंत, वर्ण और वर्ग-भेद की समाप्ति आदि के संदर्भ में बोलीवार को याद किया गया।

लातीनी अमेरिका भले भौगोलिक दूरी पर है परंतु वहाँ की समस्याएँ, जन-जीवन बहुत कुछ भारत से मिलता-जुलता है। १९८१ में बोलीवार के १५० वीं पुण्य तिथि पर दिल्ली में एक प्रमुख सड़क का नामकरण भी बोलीवार के नाम पर किया गया।

इस पुस्तक में स्पेशि-हिन्दी शब्दावली की व्याख्या की गयी है ताकि पुस्तक को समझने में आसानी हो। प्रत्येक अध्याय के अंत में बहुत सी महत्वपूर्ण पुस्तकों का हवाला दिया गया है जिनसे प्रस्तुत पुस्तक तैयार की गई है।

अस्मिता की भावना की बात करते हुए सिमोन बोलीवार ने कहा—'दक्षिण अमेरिका में निवासियों की स्थिति वर्षों से निष्क्रिय रही है... हम दासों से भी नीचे थे... अमेरिका को इसकी स्वतंत्रता से भी वंचित कर दिया गया... हमें इस पर अपमान सहना पड़ा, जिसने न सिर्फ हमारे अधिकार हमसे छीने बल्कि हमें सार्वजनिक क्षेत्रों में भी स्थाई 'बालकपन' की अवस्था में छोड़ दिया... इस समाज में दक्षिणी अमेरिका महज़ सर्फ हैं, महज़ श्रम के लिए या फिर मंडी के लिए जबकि इसमें भी असहनीय बंदिशें हैं... जहाँ तक सरकार और प्रशासन के विज्ञान का संबंध है, हमें वास्तविकता से अलग कर दिया गया। हम न कभी वायसराय रहे और न कभी गर्वनर, सिवाय कुछ खास स्थितियों में, बहुत कम आकबिशप और बिशप, राजनयिक पर कभी नहीं, सिपाही, सिर्फ छोटे स्तर के। हम कभी न्यायाधीश, वित्त अधिकारी, यहाँ तक कि व्यवसायी भी नहीं रहे...' (पृष्ठ २०)। बोलीवार के आध्यात्मिक पक्ष पर और बुद्धिमान तथा निष्पक्ष विदेशी कनाडा के जनरल जोन राबर्टसन लिखते हैं: 'उनके देशवासियों में बोलीवार की समानता कोई नहीं कर सकता, उनसे ऊँचे की बात तो छोड़िये। बहुत कम लोग सम्मान और नाजुक प्रवृत्तियों वाले होते हैं। उनकी उदारता और नि:स्वार्थ भावना का कोई अंत नहीं है, उनकी दयालुता सब अवसरों पर प्रकट होती है, जब उनकी सहानुभूति जाग उठती है। जब उनके पास पैतृक संपत्ति थी तो उन्हें सर्वाधिक संतोष गरीबों और अभागों की मदद करने में मिलता था, उनके दु:खों को शांत और नाजुक तरीके से दूर करने में वह कभी असफल नहीं हुए। उनका ध्यान कभी नहीं बँटता और इस दृष्टि से वह असाधारण हैं। वह एकांत और थकान किसी और से ज्यादा अच्छी तरह सह सकते हैं। बहुत कम लोग खतरे वाली और विपरीत परिस्थितियों में उन जैसी निस्तब्धता दिखा सकते हैं और उनका धैर्य तो असीमित है। मैं ऐसी घटनाओं को स्वयं जानता हूँ जिनमें उनकी अंतिम दो विशेषताएं खूब प्रकट हुई हैं।' (पृष्ठ ३६-३७)

जब बोलीवार मात्र बारह साल के थे तो उन्होंने एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये जो स्वतंत्रता के प्रति उनके प्रेम का सबसे पुराना प्रतीक है। पिता का देहांत, चाचा पर उनकी देखभाल का भार और उनका चाचा के घर को छोड़कर अपनी बहन के साथ रहना, कारावास के उच्चवर्ग की बातों का विषय बन गए। उन्हें शाही अदालत में बुलाया गया। मुंशी उनके साहसी शब्दों को दर्ज करने का साहस नहीं कर सका। उस अवसर पर बोलीवार ने कहा—'अदालत चाहे उनकी सम्पत्ति अधिकृत करले पर उनके मन पर अधिकार नहीं पा सकती, क्योंकि यदि दासों को अपने स्वामी चुनने का अधिकार है तो उन्हें भी यह निर्णय लेने का अधिकार है कि वह किस घर में रहना चाहते हैं।' (पृष्ठ ४५)

बोलीवार ने हमेशा इस बात पर ज़ोर दिया कि लोगों की राय थोड़े-थोड़े अंतराल के बाद ली जाती रहे—'अकसर चुनाव कराना गणतंत्र के लिए अति आवश्यक है, क्योंकि एक व्यक्ति के हाथ में सत्ता सौंपने से ज्यादा खतरनाक कोई काम नहीं है। लोग उसके अधीन रहने के आदी हो जाते हैं और वह उन्हें आदेश देने का। यही तानाशाही की ओर पहला कदम है...' (पृष्ठ ६७)

परिस्थितियों की विवशताओं और सीमाओं से बँधे होने के बावजूद बोलीवार की संघर्ष के प्रति आस्था समाप्त न हुई। शिक्षा की शक्ति में उनका अटूट विश्वास था। वैसे भी उन्हें इस बात का

आभास था कि सभी तरह के विचारों का सम्मान, जनता का आलोचनाओं का सदैव स्वागत और जनता के मतों का पूरा ख्याल रखा जाना चाहिए। धर्म के बारे में बोलीवार के विचार थे—'धर्म तो सिर्फ चैतन्य की भावना है। एक राजनीतिक संविधान में किसी भी धर्म को प्राथमिकता नहीं दी जानी चाहिए... धर्म तो प्रत्येक के लिए उसका निजी कर्म है... उसकी आंतरिक भावना है।' (पृष्ठ ७०)

बोलीवार जिस समस्या का सामना कर रहे थे वह थी: जनता की इच्छा और सरकार के अधिकार में संतुलन स्थापित करना। यदि सरकार को शक्ति का आधार चाहिए था जिसमें आम इच्छाओं को पूरा किया जा सके तो नागरिकों को उतनी स्वतंत्रता अवश्य मिलनी चाहिए। जितनी सरकार के संदर्भ में अनुकूल हो। क्रांति का लक्ष्य 'गणतंत्रता की उपस्थिति, तथा नागरिकता के अधिकारों और प्रशासन की स्थिरता को संतुलित रखना जिससे जनता को अधिकतम प्रसन्नता और स्वतंत्रता तथा सरकार को अधिकतम शक्ति और बल मिल सके।' (पृष्ठ ७९)

बोलीवार की शिक्षा प्रणाली के बारे में विचार कितने साफ थे—'यदि विद्यालयों में त्रुटियों को पनपने दिया गया तो देश में अज्ञानता छा जायेगी। यही कारण है कि प्रगतिशील समाज सदा शिक्षा को एक महत्वपूर्ण संस्था मानते हैं...' (पृष्ठ १२९)

बोलीवार के साथ ही विशाल कोलम्बिया भी धराशायी हो गया। पुराने राष्ट्रीय राज्यों के नेताओं के रूप में पैख, सान्तान्दरे और फ्लोरेस ने इसे परस्पर विभाजित कर संतोष व्यक्त किया। समानता, न्याय और स्वतंत्रता के सभी स्वप्नों का अंत हो गया। प्रत्येक नये विभाजित राष्ट्र में सामाजिक व्यवस्था स्पष्टत: सैन्य व्यवस्था की दिशा में मुड़ गई और एक 'नये युग' का प्रारंभ हुआ। सैनिक नेताओं में 'हासिएन्दास' विभाजित कर दिये गए। दासता जारी रही... बोलीवार की मृत्यु के बाद मतदान भी निरर्थक हो गया... उनके सम्मान को और भी ज्यादा क्षति अविवेकी इतिहासविदों से पहुँची है जिन्होंने उन्हें तानाशाह व अत्याचारी की संज्ञा दी है। उनके मेघावी गुणों की उनके विचारों की व्यापकता के संदर्भ में बुराई की गई है, इस सुझाव के साथ कि वह हर विषय पर वाद-विवाद तो कर सकते थे, बिना संदर्भ के ऐसे उद्धरण दिये गए जिससे कि बोलीवार को सर्वाधिक गलत दार्शनिक से जोड़ा जा सके—परंतु अमेरिका के बुद्धिजीवियों ने हमेशा उनकी महत्ता को माना है, रोदो, भारती और मरमिएन्तो ने उनकी शक्तियों को श्रद्धांजलि अर्पित की, ऐसा ही महान स्पेनवासी मिगुएल दे उनामुनो ने किया। लातीनी अमेरिका के दो महान लेखकों, पाब्लो नेरुदा और मिगुएल एंजेल अस्तुरियास ने बोलीवार की स्मृति को अविस्मरणीय कर दिया:

हमारे पास जो कुछ है, वह तुम्हारी बुझी ज़िंदगी से आया है
तुमने नदियों, भूमि, घंटाघरों को पाया
पिता तुमने हमें हमारी रोटी दी है...
सेनापति, युद्धक, जब भी एक मुँह
स्वतंत्रता का नाम लेता है, जहाँ कहीं एक कान सुनता है,
जहाँ कहीं एक लाल सिपाही एक भूरे सिर को जख्मी करता है,
जहाँ कहीं चमकती पत्तियों वाला वह पौधा खिलता है,
जहाँ कहीं एक नया—
झंडा फहराया जाता है, हमारे पवित्र प्रभात के रक्त के साथ,
सेनापति, बोलीवार, तुम्हारा चेहरा उसमें दिखाई देता है...
मुक्तिदाता, तुम्हारी बाहों में एक शांतिमय विश्व का जन्म हुआ।

शांति, रोटी, गेहूं तुम्हारे खून से उत्पन्न हुए।
अपने युवारक्त द्वारा जो तुम्हारे रक्त से आया,
शांति, रोटी और गेहूं उगेगा उस विश्व के लिए जो हम बनाएँगे।
मैं स्वतंत्रता में विश्वास करता हूं, अमेरिका की माता,
भूमि के प्रसन्नदायक समूहों की निर्माता,
और बोलीवार में, उसका बेटा, हमारा शासक,
जो वेनेजुएला में जन्मा, जिसने दुख भोगे,
स्पेनिश शक्तियों की अधीनता का विरोध किया,
किमबोरासो पर मरा,
और विश्व के प्रकाश के साथ स्वर्ग चला गया,
वह फिर कोलम्बिया की आवाज़ को सुनकर उठा,
उसने 'उसे' अपने हाथों से छुआ
और प्रभु के दायें हाथ पर वह खड़ा है।
हम पर निर्णय मत लो, बोलीवार, अंतिम दिन तक,
क्योंकि हम मानवता के अंतिम अन्न ग्रहण
वाले दिन में विश्वास करते हैं
जो लोगों के साथ अंतिम अन्न ग्रहण कर लेता है, कि सिर्फ वही
मानवता स्वतंत्र कर सकता है, हम घोषणा करते हैं
मृत्यु तक युद्ध और अत्याचारियों पर दया किए बिना
हम नायकों के पुनर्जीवन में विश्वास करते हैं
और उनका जीवन जो तुम्हारी तरह है,
मुक्तिदाता, मृत्यु को न स्वीकार करें, अपितु अपने नेत्र बंद कर
देखना जारी रखें।'

(पृष्ठ १८१-८२)

यह सच है कि प्रजातांत्रिक सरकारें लेटिन अमेरिका की भूमि पर कमज़ोर हैं। लेकिन जो हैं, उन्हें मजबूत किया जाना चाहिए... ठीक यही रहेगा कि वे बोलीवार के जीवन से मार्गदर्शन प्राप्त करें। उन्होंने कभी घृणा या मृत्यु का प्रचार नहीं किया। वस्तुतः वे अमेरिकी चेतना के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

अनुवादक तथा प्रकाशक का प्रयास सराहनीय है और इसके लिए उन्हें बधाई दी जानी चाहिए।

बोलीवार—एक महाद्वीप: एक निर्माता, मूल लेखक: खोसे सालसेदो-बासतार्दो, स्पेनिश मूल से हिन्दी अनुवाद एवं संपादन: प्रवीण कुमार कपिला, प्रकाशक: **भारतीय भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, आज़ाद भवन, इन्द्रप्रस्थ एस्टेट, नयी दिल्ली-११०००२.** १९८३, मूल्य: ४० रुपये, पृष्ठ १९६.

माटी मेरे गाँव की

पिछले पंद्रह वर्ष से मनोहरलाल का नाम ललित निबंध, लेख, आलोचना, कहानी तथा कविता के क्षेत्र में चर्चित रहा है। अनेक पुस्तकों के प्रकाशन के बाद यह पहला निबंध संग्रह है। लेखक पर हिंदी जगत के जाने माने निबंधकारों—प्रो० पूर्ण सिंह, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा काका कालेलकर—में से किसका कितना प्रभाव है, कहना कठिन है। प्रयास भले ही पहला है पर है अद्‌भुत!

आलोच्य पुस्तक दो भागों में है—वनश्री तथा लोकश्री। वनश्री पढ़ते समय महसूस होता है कि लेखक पेड़ों, फूलों, पत्तों, टहनियों के इतिहास से परिचित है। कला, कहावतें, कविता, धार्मिक ग्रंथों आदि में किसने, कब, क्या कहा, का प्रसंग मिलता है, दिल को छूता है। यों लेखक ने साहित्य-क्षेत्र में कई 'हथकण्डे' आज़माए हैं—कविता, कहानी, लेख आदि, परंतु निबंधों का यह गुलदस्ता अपनी मिसाल आप है। लगता है लेखक ने अपनो आपको सही अर्थों में पहचान लिया है। एक बात दावे के साथ कही जा सकती है कि ये निबंध सहृदय पाठक के दिलोदिमाग़ पर पूरी छाप छोड़ते हैं। प्रसिद्ध है कि खोटा सिक्का और नालायक पुत्र समय पड़ने पर काम आ सकते हैं। कहना चाहूँगा कि ये लेख भी समय पड़ने पर काम आ सकते हैं जबकि आजकल ऐसे निबंधों की कमी खटकती है।

बात कहने का ढंग लेखक को आता है—पहले अपने को कोसो, फिर चाहे सारे संसार को गाली दो। कचनार की चर्चा चली तो वह तुरंत बोल उठा—'कितना मूर्ख हूँ'। इस बसंत में कांगड़ाघाटी की वसंतश्री को छोड़कर इस भीड़ भरी दिल्ली नगरी में आ बसा हूँ। पेट ने कहाँ-से-कहाँ ला पटका है। यह संसार है। और यदि कहूँ—'पेट ही बस इहां सकल जहान है...' कहा जा सकता है कि दूरी होने के कारण आकर्षण बढ़ जाता है। हो सकता है लेखक इतने सौंदर्य में रहकर वह न लिख पाता हो जो अब, दूर रहकर, नई दृष्टि से लिख पाया है।

वासंती आम्रमंजरी की चर्चा होते ही खुमारभरी हवा, अजीब-सी उमंग, अनोखी सिहरन, अनूठे उल्लास का अहसास होता है। हिंदी के निराले कवि निराला का जन्मदिन याद आता है। सारे रीतिकाल की शृंगार भरी कविताएँ गुनगुना उठती हैं, इसी प्रकार गुलमोहर, अमलतास, ज्वालामुखी पलाश आदि नए रंग जमाते हैं—पलाश हँसता है: जीवन का प्रभात है! पलाश रहस्यमय है: प्यार की तरह: शीमा में आग लग गई है...

दूसरे खण्ड के लोकश्री में 'खाली हाथ: मेरे हाथ' निबंध मार्मिक बन पड़ा है: के. पी. सक्सेना की 'बीबी नातियों वाली' की याद आती है। अम्मा का हुलिया देखते ही बनता है—'छोटा कद, दुबला-पतला शरीर, मैली किंतु रेखाओं से रेखांकित चौड़ा भाल, पतले ओठों के कोनों में प्रकाशित दृढ़ संकल्प और झुर्रियों के घने पोपले मुँह से बाहर निकल अपना परिचय देते हैं। दो दांत, करूणा से धुली, गड्ढों में धंसी सेवाभाव से दैदीप्य आंखें, पंतले ओठों पर पसरी हंसी की शीतल छाया, रंग-बिरंगी टाकियाँ-जड़ी गाढ़े खद्दर की मटमैली सुत्थण, जगह-जगह से गुथी छीटें की कमीज़, बारह महीने नंगे रहने वाले पैरों में बिवाइयों के गहरे चीरे...विधवा ब्राह्मणी है... अमृत होकर जीती है... अम्माँ के पास पैसा है भी नहीं...

'बाँकीनार: धौलाधार' तथा 'मेरा कांगड़ा देस निआरा' में लेखक की आत्मा बोल रही है।'त' से तराने में लेखक की शब्द-शक्ति का परिचय मिलता है—'त' से तितली और तवायफ़ भी।'त' से

'तस्करी', 'ताड़का', 'तहरीर' तथा 'तहज़ीब' भी है। गुलेरी के गाँव से लेखक का गहरा लगाव रहा है। 'माटी मेरे गांव की' में एक-एक वस्तु शब्दों की रोशनी में उजागर हो उठती है। भले ही वह 'चनौर' हो, 'चण्डी' हो, 'नारायण' हो या 'रूद्र' के मंदिर का ग्रामदेवता। परंपरा से जुड़े इस गाँव में आज भी 'पुरानी पीढ़ी के बूढ़े' आज भी ब्राह्मण बालकों को 'मथ्था टेकदे साण' की गूँज में झूम रहे हैं।

कथ्य, भाषा, शैली, अभिव्यक्ति की सुगंध पाठक को इतना बाँध लेती है कि वह यह पुस्तक एक ही बैठक में पढ़ने पर विवश हो जाता है।

माटी मेरे गांव की, लेखक: मनोहरलाल, प्रकाशक: किताब घर, दिल्ली-११० ०३१. १९८४, तीस रूपये, पृष्ठ—१४४.

नारी मन के चित्र
धूप के गुनगुने अहसास

बिना किसी भूमिका के, उमा अर्पिता का यह पहला कविता संग्रह है। इसमें ५२ छोटी-बड़ी कविताएँ संकलित हैं। ऐसा लगता है कि कवयित्री ने जीवन के ३० वर्षों के अनुभवों को कलात्मक ढंग से पेश किया है। अपनी बात साफ करने के लिए कहना होगा कि इन कविताओं में नारी-मन की सच्ची तस्वीरें उभर कर सामने आती है। रंगारंग के शब्द-चित्रों में उनकी झलक देखी जा सकती है—'पहली नज़र में वह चित्रलिखित-सी रह गई... भावनाओं के धरातल पर प्यार-भरी बरसात... स्नेह से सिक्त होकर बरसात बन बरसना... हृदय-भू पर काव्य के अनगिनत अंकुर फूटना... स्पर्श की मृदुलता को जीना... प्यार के अर्थों का फिसलना... मोह में आकंठ डूबना... आरोपों/प्रत्यारोपों का बोझ... अतीत की परछाइयां वर्तमान की दहलीज़ पर... भीगते संबंधों पर टूटन की काई... बिखरी यादों की किरचें... प्रतिबंधों के अस्वस्थ घेरे... रिश्तों की खोखली बुनियादें... कल्पनाओं की तितली... यादों का सैलाब... बदनसीबी का बुर्का... प्रश्नों के गुब्बारे... करवटें बदलती रोशनी के वक्ष पर धड़कनों की पग-ध्वनि आदि...

कहना चाहिए, प्रस्तुत कविता संग्रह संभावनाओं से भरपूर है। कई कवि फैशन के लिए कविता लिखते हैं। परंतु इस संग्रह में अनुभूति की मार्मिकता का आभास मिलता है।

भाषा सरल है। कहीं-कहीं विशेषणों से अभिव्यक्ति बोझल महसूस होती है। यह पहला संग्रह होते हुए भी तुम, दर्द, बिखरे संबंध, गूँगी दहलीज़ पर, मौन अभिव्यक्ति, अनुभूतियों का कफ़न, ज़िंदगी के चौराहे पर, विद्रोहिणी, हिम्मत, शेष आदि उल्लेखनीय कविताएँ समेटे हुए है।

उपयुक्त शब्दों का प्रयोग इस संग्रह को और भी पठनीय बना पाया है। *सावन के बादलों-सी घुमड़ कर आ रही हैं तेरी यादें कौन जाने मन की किस गली में आज फिर प्यार की बरसात हो... (पृष्ठ ५९)*

धूप के गुनगुने अहसास, उमा अर्पिता, मनोज प्रकाशन, ६१३३, बस्ती हरफूलसिंह, दिल्ली-६, १९८६, पृ० ६८, मू० बीस रूपये.

संत कवि रैदास

जाने-माने साहित्यकार अक्षयकुमार जैन, डॉ० पवनकुमार जैन, डॉ० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरूण' तथा कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने सममितियां लिखी हैं। आचार्य क्षेमचंद्र सुमन ने पुस्तक की भूमिका लिखी हैं। आज इस पुस्तक का अपना महत्व है। जगह-जगह धर्म, जाति, रंग-भेद के नाम पर दंगे-फसाद हो रहे हैं। रैदास ने जाति-पांति के (ऊपरी) भेदभाव को मिटाकर तमाम मनुष्य जाति को आपस में मिलकर रहने का उपदेश दिया। उन्होंने हिंदू समाज की दरार को पाटने का प्रयास ही नहीं किया, वरन् हिंदू और मुसलमानों को भी परस्पर सद्भाव बरतने की सलाह दी—

मुसलमान सौं दोस्ती, हिन्दुअन सौं कर प्रीत
रैदास जाति सब राम की, सब हैं अपने मीत।

'स्वातंत्र्य चेतना' रैदास को अन्य सब कवियों से अलग करती है। उनका काव्य उच्चकोटि का उदात्त काव्य है। उनके समकालीन संत कबीर ने उन्हें 'संतों में रैदास संत हैं, सुपच ऋषि को मानिया' कहकर ऋषि का रूतबा दिया है। उनकी भक्ति को सब मानते हैं यहाँ तक कि भारत सम्राट् राणा सांगा के राज परिवार ने उन्हें अपना कुलगुरू स्वीकार किया। रैदास के काव्य में संस्कृत के तत्सम शब्दों का विकृत प्रयोग मिलता है। इस छोटी-सी पुस्तक में २२८ साखियां तथा एक सौ पद संग्रहीत हैं। लेखक रैदास के व्यक्तित्व तथा काव्य का सही परिचय देने के लिए बधाई का पात्र है।

— केदार नाथ कोमल

संत कवि रैदास: मूल्यांकन और प्रदेय, डॉ० एन. सिंह, पुखराज प्रकाशन, खतौली, १९८३, पृ० १००, मू० १५ रूपये.

एक दधीचि और

डॉ० श्याम सिंह शशि कविता के पाठकों के बीच एक ऐसे सुपरिचित हस्ताक्षर हैं, जो अपने आत्मीय काव्य-स्वर से अपनी विशिष्ट पहचान बना चुके हैं। कवि ने स्वयं को 'वयं' में विसर्जित करने के उपक्रम में कविता को ही अपना पथ और पाथेय चुना है, कविता ही है जो उसे सुलगाती, धुंधलाती, चबाती और उगलती है। इस संकलन में विभिन्न विषयों से संबंधित लगभग चालीस कविताएँ हैं। कुछ कविताएँ विविध विषय श्रृंखला में निबद्ध हैं और कुछ कविता-पंक्तियाँ-स्फुट परिभाषात्मक टिप्पणियों में ढल गयी हैं। वस्तुत: इन कविताओं के बहाने कवि खुद अपने सामने खड़ा होकर, नये सिरे से अपने को परिभाषित करना चाहता है।

कविता कवि जीवन का सबसे अंतरंग, अर्जित और विश्वसनीय सत्य और समीकरण है और जब इस सत्य की रक्षा के लिए कोई कवि तत्पर हो जाता है तो वह किन्हीं अप्रिय स्थितियों, दबावों या खतरों की परवाह नहीं करता।

कविता के नाम पर जो अखबारी बयानबाज़ी और विकलांग नारेबाज़ी पिछले दो दशकों से देखी जा रही है, **डॉ. शशि** ने अपने आपको इससे बहुत पहले मुक्त कर लिया था। उनकी पिछली काव्य-कृतियों 'आस्था के स्वर' और 'शिलानगर' में भी विषयगत वैविध्य के बावजूद व्यक्तिगत स्वर विद्यमान था। लेकिन वहाँ भी कविता के स्वीकृत ढांचे को और अपनी 'सर्वतोभद्र' मुद्रा को जुगाये रखने की चिंता थी और अपने उपमान और उपमेयों के साथ-साथ अपने आलम्बनों के प्रति एक सकरूण, ममत्वपूर्ण बोधिसत्वभाव। कुल मिलाकर कवि इतना आत्मसजग या चौकस था कि वह कुछ लिखने के पहले यह देख लेता था कि मैं किनके बीच लिख रहा हूं और कहाँ-कहाँ से दिख रहा हूँ। इस संकलन ने यह भरोसा दिलाया है कि कवि अब कमरे में या पेड़ की छाँव में नहीं, एक चिरपरिचित आसमान के नीचे लिख रहा है। अब एक नयी भोर के स्वागत में उसका नया मनपंछी चहकने लगा है। कुछ कविताओं में कतिपय नये बिंब संजोये गये हैं लेकिन तरलता की जगह, उनमें सघनता कहीं अधिक है। और जिस बात के लिए कवि की संवर्द्धना की जा सकती है, वह है स्थितियों को यथाशक्ति और दक्षता के अनुरूप बदलने का विधायक संकल्प।

इतना ही नहीं, सच्चे झूठे संबंधों को परिभाषित या परिरेखित करने या उनके बारे में दो टूक निर्णय लेने में कवि को अब देर नहीं होती। इस प्रकार संकलन की अधिकांश कविताएँ साँप-सीढ़ी या 'खो-खो' के खेल की अनावश्यक और औपचारिक तैयारियों से मुक्त देखना चाहती हैं। दाँव बनने में ही वक्त बर्बाद नहीं करना चाहतीं। कवि किसी फैसले के नज़दीक पहुँचना चाहता है लेकिन वह हम सबमें सम्मिलित उस बौनी 'हिप्पोक्रेसी' को भी रेखांकित करना नहीं भूलता:

> 'ऊँचा दिखने के लिए/सचमुच/ऊँचों से आगे हम
> अपनी एड़ियों के बल
> क्यूं उचकते हैं।' (पृ० १८)

वह शब्दों और संबंधों को 'उलटवासी' की सुलटवासी' में बदलने के लिए वह उन सच्चे शब्दों की तलाश में है, जो सच्चाई बयान करे ताकि सारे दोगले अर्थ संबंध और दोहरे मुहावरे बेनकाब हो सकें। कवि ने उन सारी आड़ी तिरछी रेखाओं, खोटी कसौटियों और पुरानी जर्जर मान्यताओं को जो परंपरा के नाम पर चल रही हैं, कचरे में फेंक देना चाहा है।

संकलन की अधिकांश कविताएँ उस निकटतम दोस्त को संबोधित हैं, जो यह दावा कर सके कि वह कवि को अच्छी या बुरी तरह—मगर पूरी तरह जानता है। साथ ही यह भी जानता है कि वर्तमान संदर्भों और अभिशप्त परिस्थितियों में सच्ची मुस्कान बाँटना कितना कठिन है:

> 'मुस्कान बाँटना
> इतना आसान नहीं होता मेरे दोस्त
> पुरी जिंदगी गुज़र जाती है
> उसे जन्माने में" (पृ० १४)

संकलन की नींव की ईंट के रूप में पहली कविता दधीचि की अस्थियों पर ही रखी गयी है। वस्तुत: यह कविता कवि की सत्तास्मिता पर घटित है। कवि इस युगीन विडंबना से परिचित है कि

उसके बलिदान को समाज और अंतरंग संबंधों ने इस योग्य नहीं समझा कि उसकी अस्थियों से कोई अस्त्र बनाया जा सकेगा। काल का स्वभाव या निर्णय ही ऐसा है कि वह किसी मिथक को अमरता तो प्रदान कर सकता है, वर्तमान या विद्यमान को सहेज नहीं सकता। कवि का यह आशय दूसरी और तीसरी कविता के भाव-विस्तार में भी व्यक्त हुआ है। अतीत के वैभव और गौरव से न तो कवि आतंकित है और न ही वह बीते हुए कल के नाम पर पश्चाताप या प्रायश्चित करना चाहता है। आत्मदान की अपेक्षा आत्मबोध, आत्मविश्वास और नये संकल्प को ही वह नवनिर्माण की कसौटी मानता है:

'हाँ, आज इस भयंकर दानव से मल्लयुद्ध करूँगा... लडूँगा हाँ, आज अंधकार को चीर

नयी भोर का सृजन करूँगा'
'नया निर्माण नाश में से ही, सदा से जन्मता है
विश्वास लहलहाए सृजन की तो
आप सब सँवरता हैं' (पृ० ३१, ३२)

इतिहास के शाप-पाप, ताप-तनाव और अभिशाप की पोटली आग में झोंककर कवि एक 'नयी दुनिया' रचने की बात करने लगा है

'दुनिया तेरी मेरी उसकी नहीं
सबकी दुनिया, साझी दुनिया
पूँजी नहीं, पूरे प्यार की दुनिया' (पृ० १७)

संग्रह की लगभग सभी कविताएँ कवि के प्रौढ़ आत्मबोध से मुखर हैं। प्रतिलोभ और क्रमशः विसंगत होती जा रही जटिल जीवन स्थितियों को कविता में कवि खुद को भी नहीं बख्शता। कविता और इसके आलंबन के परस्पर समीकरण को बदलते हुए कवि ने अपने इर्द गिर्द इकट्ठा किसिम-किसिम के दोस्तों को आहत करने का खतरा उठाकर भी सच कहने का साहस किया है। उसे यह भी लगने लगा है कि नवनिर्माण का संकल्प झुर्रियों में कैसे तब्दील होता जा रहा है। जूठन, सडांध, गरीबी, कोलाहल, अंधश्रद्धा, चतुर्दिक व्याप्त छल-छद्म के साथ-साथ कवि का अंतर्द्वन्द्व उसे फिर गेंद-सा उछाल देता है और तब सौंदर्य-बोध, 'अभिनय', 'वेदना', 'सांपों के बीच' और रायगढ़ स्टेशन पर—जैसी कविताएँ उसे कचोटने लगती हैं। कवि स्वीकारता है, 'अब तो लगता है मेरा स्वभाव ही अपने आपको डसने लगा है। (पृ० १२)

कवि डॉ० शशि ने साहस और संकल्प का परिचय देते हुए नवीन ही नहीं नवीनतम अभिव्यक्तियों में अपने को प्रस्तुत करना चाहा है, आशा है उनके इस अभिनव स्वर और तेवर का स्वागत होगा।

—**डॉ. रणजीत साहा**

प्रकाशक: संधान प्रकाशन, १२/९८९, रामाकृष्णपुरम्, नयी दिल्ली-११००२२,
प्रथम संस्करण १९८४, मूल्य बीस रूपये, सजिल्द, पृ० सं० ५६, डिमाई.

बेहतर दुनिया के लिए

'चीज़ों को देखकर' और 'साथ चलते हुए' के बाद डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का तीसरा काव्य संकलन 'बेहतर दुनिया के लिए' कवि के व्यापक जीवनानुभव और तदनुरूप विषय-वैविध्य और शिल्प-सजगता दोनों ही स्तरों पर अपने पाठकों को भरपूर आश्वस्ति देता है। इस संकलन की कविताएँ समता, शांति और स्वधीनता के लिए सतत जूझने वाले अकेले मनुष्य की दुर्निवार जीवनी-शक्ति और समर-संकल्प को प्रखर अभिव्यक्ति देती हैं। इनका जन्म निश्चयात्मक रूप से संघर्ष की कोख से ही हुआ है, किंतु प्रत्येक स्थिति में इनका अभीष्ट लड़ाई-झगड़ा ही नहीं है। ये प्रेम करने की कला जानती हैं और लोगों को खुद से प्रेम करने का अपूर्व सम्मोहनकारी आमंत्रण भी देती हैं। युद्ध और प्रेम की समग्रता के आस-पास व्यक्ति के आंतरिक सच को द्वंद्वात्मक अभिव्यक्ति देने में इन्हें कुशलता प्राप्त है।

यह आकस्मिक नहीं है कि तिवारी जी के इस संकलन में प्रेम-कविताओं का बाहुल्य है। इनकी प्रकृति प्रगीतात्मक है और भावाकुलता नैसर्गिक। प्रकृति के सान्निध्य में कवि ने मनुष्य के लिए अपने हृदय-छंद को उज्ज्वल, प्रदीप्त और रागरंजित व्यष्टि सत्य से अनुप्राणित किया है। हमारे आस-पास समष्टि जीवन में जो कुरुपता है, गहन अंधकार है, शोषण और उत्पीड़न का अबाध सिलसिला और आतंक का राज्य है, तिवारी जी उससे जरा भी विचलित नहीं होते। उनकी मनुष्य की दुरंत जीवनी शक्ति में अविकल आस्था है। कवि की प्रतीति असाधारण है—

> 'उजासफूट रहा है भोर का/धुँधलके में उभर रही हैं
> मिट्टी की सूरतें/पेड़-पौधे वनस्पतियां/आकाश का रंग
> पक्षियों की चहक/जल में झिलमिलाती छायाएँ/बहुत खूबसूरत
> लग रही है रात/इस वक्त जब वह गुजर रही है/भोर निर्झर
> की तरह चारो ओर/नहाकर निकलेगा इसमें से दिन खिला हुआ/
> सद्य: स्नाता प्रकृति झिलमिलाती मुस्कराती/अंधेरे के भीतर से
> दमकती/ताजा प्रसन्न मांसल आनेवाले दिन के लिए तैयार।'
>
> (बेहतर दुनिया के लिए, पृ० ८८)

कवि की यह निर्द्वंद्व आस्था इतनी सहज है कि इसे कोरा खयाली पुलाव नहीं कहा जा सकता। यह सही है कि समकालीन कविता सामाजिक यथार्थ के चित्रण में ही अधिकाधिक सजगता दिखा रही है और आज के अधिकांश पक्षधर कवि शोषण-शासक प्रवृत्तियों के प्रति घृणा के आवेग में अंधा होकर नाश, विध्वंस और तमस् को ही चरम-परम मानकर गौरवान्वित हो रहे हैं। किंतु अपवाद स्वरूप विश्वनाथ प्रसाद तिवारी जैसों की कविताएँ इस वैषम्य को स्वीकार करके भी, मानवीय समृद्धि और व्यापक करुणा-भाव से अभिषिक्त होने के कारण, दुनिया को प्रेम करने योग्य और साक्षात् सौंदर्य की प्रतिमूर्ति के रूप में रेखांकित करती हैं। ऐसे में, यह मानना पड़ेगा कि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी एक योद्धा कवि का नाम है जो पहले से उपलब्ध यथास्थितिवादी दुनिया को अग्रसरित करना ही पर्याप्त नहीं समझता, उसके पास बेहतर दुनिया का स्वप्न देखनेवाली युगद्रष्टा आँखें हैं। कवि यहाँ एक ऐसी

दुनिया के निर्माण का अभिनव स्वप्न संजोता है, जिसमें टैंकों, प्रक्षेपास्त्रों के बावजूद प्यार करनेवालों और कविता लिखने वालों को बेहतर प्रतिष्ठा मिलेगी। कवि-कथन है—

> 'शाश्वत कुंवारी धरती से/उभरेंगी छिपी हुई सूरतें/कुलांचे
> भरेंगे मृगशावक/टैंकों, संगीनों, प्रक्षेपास्त्रों के बीच अंतरिक्ष
> के अनंत विस्तार में तैरती/अंधेरे में चिड़ियों की तरह
> चहचहाती/गूँजती रहेंगी कविताएँ जो लिखते हैं कविताएँ/
> वे करते हैं प्यार/वे धरती को थोड़ा और चौड़ा करते हैं/
> थोड़ा और नम।' —(पृ० ११३)

कविता मात्र के प्रति इतने ऊँचे किस्म के विचार व्यक्त करनेवाला यह कवि स्वप्न द्रष्टा भी साधारण दर्जे का नहीं है। कवि सपने देखता है, सपने देखने का यह आग्रह उसे अंधेरी गुफा में ले जाता है, किंतु ध्यान देने की बात यह है कि कवि प्रतिकूल स्थिति में भी पलायन नहीं करता। एक जगह कवि जिज्ञासा करता है—

> 'कैसे कटती हैं उनकी रातें/जो नहीं देखते सपने?
> सपने आकाश की तरह अनंत/सपने क्षितिज की तरह
> अजनबी/सपने बच्चों की तरह मुलायम/सपने पक्षियों
> की तरह पंख फैलाए/सपने कोहरे में सोये जंगलों की तरह/
> उगते दिन की तरह सपने/कहते हैं वे/अपने सपने बेच दो/
> क्या खरीदूँगा मैं अपने सपने बेचकर?'

कवि जब यह पूछता है कि 'क्या खरीदूँगा मैं सपने बेचकर', तब उसे मालूम है कि सपने बेचकर अन्य लोग क्या खरीदते हैं। कवि बड़ी से बड़ी कीमत पर अपने सपने नहीं बेचेगा, यह एक महान् संकल्प है। किंतु यह संकल्प उसे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में निश्चित ही अकेला कर देता—

> 'बर्फ गिर रही है/पेड़ खड़े हैं श्वेत ठिठुरे हुए/एक नुकीला
> मैदान है नीचे/और ऊपर एक पहाड़ी बर्फ ढकी/बीच में
> एक आदमी है/चढ़ता हुआ/बढ़ता हुआ चोटी की ओर/
> कितना भयावह लगता है/जब एक आदमी चलता है/चलता
> है खामोश घाटी के बीच/और बर्फ गिर रही होती है
> चारों ओर' —(पृ० २९)

'बेहतर दुनिया के लिए' कृतसंकल्प यह आदमी सामाजिक-आर्थिक वैषम्य के दुष्परिणामों का सांकेतिक भाषा में अतिशय सतर्क किंतु अर्थयुक्त विश्लेषण करता है। कवि अपने शब्द-कर्म से मौजूदा पूँजीवादी शोषण तंत्र की भीतरी संरचना को आवरण हीन कर देता है। ऐसा करते वक्त भाषा की रात उसे भयभीत नहीं करती, किंतु अकेलेपन का अहसास उसका तीव्रतर होता जाता है—

> 'हंसा/तू उस कस्बे की तरह हो/जिस पर बर्बरों ने हमला
> बोल दिया है/तू अपने में सिमट जा/और सिमट जा
> हंसा/मोटे थुलथुल/मांसखोर गिद्ध/चीख रहे हैं तुम्हारे
> विरुद्ध/तू अकेला और अकेला हो जा हंसा।'—पृ० ३४

कवि एक संवेदनशील मनुष्य के रूप में सामाजिक बुराई और पूँजीवादी अमानुषिक शोषणतंत्र के खिलाफ आत्यंतिक रूप से स्वयं को अकेले महसूस करता है। उसका ऐसा महसूस करना, आत्म हित के निमित्त परंपरानुमोदित रक्षा कवच पहन लेना नहीं है और न ही वर्तमान बनाने के लिए लड़ाई के मैदान से पलायन करके गुफागेह हो जाना। बल्कि यह तो हमारे समय की मार्मिक सचाई है जिसे वह मुक्त कंठ सार्वजनिक रूप दे देता है। यहां कोई आवरण नहीं, कोई फरेब नहीं, कोई शब्द-प्रपंच नहीं। गरज यह कि कुछ भी कृत्रिम नहीं। वस्तुतः ये कविताएँ प्रपात की तरह निसर्ग चेतन हैं, जिनका उत्स और गंतव्य सब कुछ स्पष्ट है। इनकी स्थिति और गति निर्विकल्प है। यहाँ शब्द झर रहे हैं, जैसे पत्ते गिर रहे हैं, जैसे नदी बह रही है, जैसे पंचतरणी, चंदन बाड़ी कुल्लू या मनाली में बर्फ गिर रही है!

कविता की यह स्वप्नजीवी दुनिया हमारे आस-पास की दाग-दाग चेहरे वाली दुनिया से किंचित् भिन्न लग सकती है—बहुत स्थूल ढंग से सोचने पर। किंतु गहराई में शब्द की यह दुनिर्वार साधना प्रेम और कविता और प्रकृति के सान्निध्य में सप्राण हुई आदर्श मनुष्यता के संधान और साक्षात्कार में तल्लीन होने के कारण सुधीजनों को अनिवार्यतः चुनौती पूर्ण प्रतीत होगी। हिंदी कविता के समकालीन परिदृश्य में विरले कवि ही इस जीवट का पता देते हैं। कविता लिखने और प्यार करने का यह सलीका और कहाँ मिलता है? प्यार को सड़क में तबदील कर देनेवाले कथित प्रगतिकामियों की संप्रति बड़ी कमी नहीं है हिंदी में, किंतु प्यार को विद्रोह की परिणति देनेवाले कवि का एक ही नाम है—विश्वनाथ प्रसाद तिवारी। इस कवि की स्थापना भी एक ही है—जो नहीं करते प्यार वे नहीं लिख सकते कविताएँ/तब वे 'बेहतर दुनिया के लिए' सच्चे हृदय से प्रयत्नशील भी नहीं हो सकते।

प्रकृति और नारी के निसर्ग सान्निध्य में हिंदी कविता की जातीय चेतना को फूलने-फलने का हमेशा से सुअवसर मिलता रहा है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का कवि भी हमारी जातीय चेतना से नाभिनालबद्ध होने के कारण, मनुष्येतर प्राणियों और प्रकृति के लीला प्रसार के बीच अपने रागसत्य को, तीव्र भावोद्रेक को पूरी सजगता से प्रतिफलित करता है—

> वसंत की नयी सुकुमार पत्तियों को/नोंचता है बन्दरों का
> समूह/उछलते-कूदते किचकिचाते/मुँह बिराते बन्दरों का समूह/
> सूरज भाग रहा है/घोड़ों को हाँकता/और रात आनेवाली है/
> टिमटिमाती, लपलपाती, काँपती रात...
>
> रात के इस अंधेरे में/जबकि चारों ओर कुछ नहीं
> दीखता यदि मुझे दिखती है दुनिया साफ-साफ/
> तो किसके सहारे? नदी बह रही है और पत्ते
> गिर रहे हैं/और गुजर रही है रात/तुम्हारी
> बहुत याद आती है—. (पृ० १०६)
>
> तुम ताजा फूलों का एक गुलदस्ता हो
> विक्षुब्ध-चेतना को शांत करती हो
> तरल, जैसे करुणा
> एक खिंचे हुए तार को टूटने से बचाती हो तुम
> ईश्वर का आभास होता है/जब तुम्हें देखता हूँ

हवा के एक शीतल झोंके की तरह आती हो/बैठ जाती
हो एक तराशी हुई मूर्ति की तरह/एक नशे-सी तुम्हारी
उपस्थिति कर देती है उदास/और भर देती है मुझे भीतर से
फिर से लबालब/छलकने के लिए तैयार/और दुनिया के लिए
उपयोगी प्रेम करते हुए तुम/अलग नहीं होती दुनिया से
दुनिया भर से/प्रेम कर सकती हो तुम एक साथ।—(पृ० १०७)

प्रेम-कविता की यह गरिमामयी सृजन चेतना और विद्वेष का अतिक्रमण कर जब निर्मल और निर्दोष सौंदर्य की सुषमा रेखांकित करती है, वसंत सदेह अवतरित होता है—मात्र कविता में नहीं सचमुच के समष्टि जीवन में उसकी पदचाप हमारे कर्ण—कुहरों में बहुत साफसुनायी पड़ने लगती है। कहना चाहिए, डॉ० तिवारी की कविताओं में प्रेम व्यापार प्रकृति और औरत तीनों पवित्रता की उदात्त आकृति में अकसर पूजा और अर्चना की वस्तु बन गयी हैं। उन्हें आँकते हुए कवि इस 'लघु मानव लघु परिवेश' के युग में भी विराट् से लौकिक-अलौकिक दोनों स्तरों पर तदाकार होता है। ऐसे क्षण कई-कई बिंब एक दूसरे से गुँथे, परस्पर सायुज्य सम्बन्ध सिरजते प्रतीत होते हैं। 'शृंगार करती स्त्री' का यह चित्र उपर्युक्त स्थापना को बल देता है—

'तुम्हारे स्तन पृथ्वी की तरह हैं स्त्री/तुम्हारी आँखें आकाश
की तरह/तुम गंध हो, हवा हो, जल हो, धूप हो स्त्री/
तुम्हारे आईने के पीछे घूर रहे हैं बनैले पशु/वे तुम्हें निगल
जाना चाहते हैं/वे अपनी पृथ्वी को, प्रकृति को निगल जाना
चाहते हैं।'— (पृ० ६६)

यहाँ प्रकृति की सात्विक जिजीविषा से उत्फुल्ल होकर कवि औरत को, प्रेमिका को उसकी समूची गरिमा और ऐश्वर्य में रुपायित करता है। यथार्थ और विभ्रम की इस प्रातिभ परिणति की पृष्ठभूमि में एक समग्र और माँसल प्रेमालाप की प्रक्रिया है, परिणति खुद प्रेम है जिसकी प्रतिमा गढ़ते वक्त कवि जब कभी आँखें खोलता है—प्रत्येक तूफान के बाद उसकी प्रेमिका एक रौंदी हुई रेती का अभिज्ञान कराती है। बनैले हिंसक पशुओं से भरा यह जंगल, खूंखार आदमखोर समुद्र की लहरें उसकी नजरों का पीछा करती जान पड़ती हैं।

बहरहाल, यह एक सुखद स्थिति है कि अपने से, प्रकृति से और प्रेमिका से चेतना के स्तर पर जुड़ा कवि—मन उतने ही से संतुष्ट नहीं हो गया है। वह दुनिया के घोर अमानवीय हिस्से पर भी वेधक दृष्टि डालने में पूर्ण सक्षम हुआ है। 'गाय', 'हिरन', 'हाथी' को विषय बनाकर लिखते समय कवि उपभोक्ता संस्कृति और बाजारू सभ्यता की विसंगतियों का पर्दाफाश कर देता है। पूँजीवादी समाज—व्यवस्था में संबंधों का खोखलापन और तथाकथित सभ्य समाज की अधीरता और तात्कालिकता पर विश्वनाथ प्रसाद तिवारी बड़ा तीखा व्यंग्य प्रहार करते हैं। उनका यह व्यंग्यप्रहार खुद के बचाव के लिए कहीं नहीं होता, कवि खुद की संलग्नता में मध्यवर्गीय अंतविरोधों का अपेक्षाकृत अधिक प्रभावकारी रूप देख सका है—। इन कविताओं का रचनाकार एक मध्यवर्गीय भारतीय है जो बहुत सी परंपरागत चीजों से एक साथ ही मुक्ति चाहता है। वह लकीर की तरह अपने जीवन में आगे बढ़ना चाहता है किंतु वृत्त की तरह बनकर रह गया है। कवि का स्वगत है—

'जीवन के सपने रह गये अधूरे/नहीं बना सका कोई भी जगह
इतिहास में/जूझता रहा निरंतर आकाश में/नहीं मिली
शान्ति, नहीं मिली भ्रान्ति/व्यर्थ हो गया जीवन/धर्म,
अर्थ, काम और मोक्ष कुछ न मिला/कितने रूपों में जला है यह
मन तापों में गला है बरसातों में।' (पृ० ७४)

मतलब यह कि इन कविताओं के पीछे मध्यवर्गीय व्यक्ति का बहुआयामी संघर्ष है। स्वयं कवि भी गरीबी को ही अपनी सृजनात्मकता का अधिकांश श्रेय देता है—

'बस कुछ दिन और/मेरी गरीबी कुछ ही दिन और
तुम्हीं मेरी शक्ति हो/सांय-सांय करती काली रातों में
जब कुत्ते और गीदड़ भूँकते हैं/और घुड़सवारों का दल
धूल उड़ाता निकल जाता है बस्तियों से/तुम्हीं मेरी शक्ति हो।'—(पृ० ६०)

'बेहतर दुनिया के लिए' पूरी ईमानदारी से प्रयत्नशील यह कवि मध्यवर्गीय अन्तर्विरोधों के चित्रण और गर्वीली गरीबी को गौरवान्वित करने तक ही परिमिन है, वह निसर्ग चेतन श्रम के पारदर्शी अपरूप सौंदर्य को चेतना के उज्ज्वल वरदान की तरह अपनी कविता में विन्यस्त करता है। 'धान रोपती स्त्री', 'एक राजस्थानी मजूर', 'सड़क का बूढ़ा' जैसी कविताओं में कवि श्रम के सौंदर्य को संवेदना और दर्शन के सायुज्य संबंध का निर्वाह करते हुए अभिव्यक्ति देता है।

कुल मिलाकर इस संकलन की एक कम पचहत्तर कविताओं में मध्यवर्गीय कुण्ठा, छायावादी संवेदना का सही सृजनात्मक विकल्प, अकेले अभिमन्यु की संघर्ष चेतना और कर्मभूमि में लहूलुहान होने पर भी फक्कड़ाना मस्ती और 'जो घर जारै आपना चले हमारे साथ' की जातीय स्मृति के साथ यथास्थिति को तोड़ने की तीव्र जिजीविषा का निदर्शन मिलता है—द्रष्टव्य है 'एक पहाड़ी यात्रा' का यह अंश—

'पर्वतकांक्षा की तरह देवदारू/कोहरे डूबी/नुकीली घाटियाँ
बादलों में सोये/सोये पहाड़/नीचे सूखी नदियों के
गर्भ ऊपर पाषाणों के बीच/बहती श्वेताएं/तन्वंगी/चीड़
वनों में घाटियों में गूँजती हवा'— (पृ० ४८)

ये सभी इस पहाड़ी यात्रा में कवि को समझाती हैं कि 'अभी बहुत चढ़ना है ऊपर'। इस कविता के अंत में 'कोई जलाता होगा आकाशदीप/अपने प्रिय नाविक के भटके जलयान को राह दिखाने के लिए' लिखकर तिवारी जी ने अतीत-स्मृति को आधुनिक संदर्भ में बेहतर अभिव्यक्ति दी है।

कवि 'बेहतर दुनिया के लिए' शब्द-कर्म में संलग्न है। उसकी यह बेहतर दुनिया क्या है? एक ऐसी दुनिया जिसमें समुद्रों, पहाड़ों, नदियों और जंगलों से गुजरते हुए आकाश के बादलों और रंगों के अद्भुत दृश्य दिखायी पड़ते हैं, अक्षत यौवना प्रकृति कवि के सामने खड़ी मुस्कराती होती है और जहाँ पशु-पक्षी, स्त्री-पुरूष-बच्चे निरुद्विग्न घूमते होते हैं। क्या शहर, क्या गाँव न कोई राजा होता न कोई सिपाही और न जेल न बंदूक। चारों ओर खिले कमल पुष्प से चेहरे और उगते हुए अंखुए, उड़ती हुई तितलियाँ—यही शक्ल है बेहतर दुनिया की, कवि विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के सपने में। उनकी इस बेहतर दुनिया में औरत प्रेयसी और माँ के रूप में प्यार करने और अर्चना करने की पात्री है। प्रेम के

विविध रूप इस लोक से अनुस्यूत होकर कवि के लिए बेहतर दुनिया बनायेंगे, वहाँ प्रेमिका जगत् जीवन के प्रति कवि के भीतर राग भाव समृद्ध करेगी, उसकी उपस्थिति का ऐश्वर्य कवि को बेड़ियों में जकड़े होने पर भी सृष्टि के कण-कण से प्रेम करना सिखायेगा। पूर्वजन्म की उज्ज्वल 'स्मृति-सी बर्फ में लिपटी यह प्रेमिका' विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के यहाँ चंदन बाड़ी स्त्रोतस्विनी बन गयी है, कवि उससे क्रमशः तदाकार होता है और तब शुरू होती है-एक अंधेरी यात्रा, लम्बी अंधेरी सुरंग से गुजरने के बाद, स्वर्ग की जो हरी-भरी घाटी शुरू होती है, वही है कवि की प्रेमिका-उसकी बेहतर दुनिया !

—**रेवती रमण**

बेहतर दुनिया के लिए/काव्य संकलन/विश्वनाथ तिवारी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली/प्रथम **संस्करण**—१९८५, मूल्य-३०/-

अभिमन्यु अनत के दो उपन्यास

पर पगडंडी नहीं मरती
गांधी जी बोले थे

अभिमन्यु अनतःऔपन्यासिक दायित्वों के बीच

मारीशस निवासी अभिमन्यु अनत भारत के हिंदी साहित्य में एक तरह से स्वीकृत हो चुके हैं।हिंदी के पाठक उनकी लेखनी से इस हद तक परिचित हैं— वे दूसरे देश के लेखक है, यह बात उनके लिए एक सूचना हो जाती है। लाल पसीना से लेकर '**गांधी जी बोले थे**' तक अभिमन्यु ने एक संघर्षमय लेखन की यात्रा की है। यह संघर्ष एक लेखक के रूप में अपनी जमीन पर राष्ट्रीयता और हिंदी के सम्मान को पाने का संघर्ष है। '**पर पगडंडी नहीं मरती**' उपन्यास में उन्होंने संघर्ष और संवेदना के स्तर पर बाहर से दिखने पर तो एक प्रेम कथा लिखी है। लेकिन वह मारीशस के अभावग्रस्त लोगों के संघर्ष की गाथा भी है। भारतीय मूल के सैकड़ों लोग अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष कर रहे हैं, उनमें उपन्यास का नायक भी है जो तीन वर्ष विदेश में काटकर अपने देश वापिस लौट रहा है। उसका वापिस लौटना उस नीरस खामोशी में चिल्लाने जैसा है। वह वापिस लौट आया है पूनिम मर चुकी है। और उसके सामने एक प्रश्न है कैसे मरी ? उसने अपने देश से चलते हुए पूनिम से कहा था कि मैं एक राज कुमार हूँ और तुम तोता हो। वह तोता जिसमें राजकुमार के प्राण निवास करते हैं। पूनिम के जीवन से उसका जीवन था। इसके बाद कहानी का एक बड़ा अंश पूनिम और नायक की भेंट के विवरण में सामने आता है।

इस उपन्यास में पूनिम और विक्रम के स्थगित संबंध के साथ अंजु और विक्रम के संबंधों की एक लंबी कड़ी उपन्यास का प्राण बनकर सामने आती है। वह पूनिम से शादी किए बगैर विदेश गया था। और इस बीच सब कुछ स्वाहा हो गया। पूनिम अतीत बन गयी लेकिन उसका वर्तमान मिटुआ,

अंजु, फुलवा, बिसना, चिरंजवा के साथ कथा में अपना स्थान बनाता है।

उपन्यास में शिवराजा, गनेशवा, नारायण पाण्डेय, बेन, समय-समय पर आते हैं और अपनी पात्रता को स्थापित करते हैं। उपन्यास में अंजु का प्रवेश विक्रम और अंजु के बीच रागात्मक संबंध की शुरूआत और बेरोजगारी का एक लंबा सिलसिला भारतीय मूल के लोगों के संघर्ष को व्यक्त करता है। प्रत्येक व्यवस्था एक सी होती है और उसमें गरीब पिसता है तथा पैसा वाला अपराधी होने के बावजूद छूटकर निकल जाता है। अपने भाई लोरिक को सजा होने के बाद अंजु काम शुरू करती है। यहाँ से उपन्यास में राजनैतिक परिस्थितियों का प्रवेश होता है, लेकिन यह राजनैतिक स्थिति उपन्यास के मुख्य गंतव्य में नहीं आती।

उपन्यास के पहले भाग में विक्रम का पूनिम की मृत्यु से हताश होना और व्यवस्था के वास्तविक रूप से परिचय पाना प्रमुख है। तीन साल पहले वह अपने देश को जैसा छोड़ गया था वह वैसा ही है। धीरज के प्रसंग में सामाजिक स्थितियों का दंश उभरता है। विक्रम के पिता भी डाक्टरों की हड़ताल के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अर्थात इस प्रसंग में भी कथा नायक व्यवस्था की दरारों को स्पष्ट करता है।

उपन्यास के तीसरे भाग में कहानी अधिक से अधिक व्यक्ति गत संदर्भों को लेकर सामाजिक स्थितियों को स्पष्ट करती है और इसी में धीरज का धर्म परिवर्तन भी आता है। बहुत आश्चर्य होता है—यह जानकर कि पैसा और सुंदर लड़की के कारण धीरज अपना धर्म परिवर्तन कर लेता है। विक्रम को बहुत कष्ट होता है।

उपन्यास का अंत सारी राजनैतिक एवं जातीय स्थितियों के बावजूद व्यक्तिगत करुणाजनक स्थितियों में बदलता है। अंजु विक्रम से इतना स्नेह करती है कि उसकी शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद उसके सपनों को पूरा करने की बात कहती है।

'पर पगडन्डी नहीं मरती' अभिमन्यु का एक ऐसा उपन्यास है जो विराट चर्चा के बीच एक छोटे से अनुभव की सार्थकता पर बल देता है। लेकिन अभिमन्यु ने इसके बाद बहुत बड़े कैनवास पर **'गांधी जी बोले थे'** उपन्यास लिख कर यह सिद्ध कर दिया है कि प्रेम कथा के सामाजिक एवं राष्ट्रीय संदर्भों से उनपर एक विराट मानवीय संदर्भ उठा सकता है। अभिमन्यु का संपूर्ण लेखन सामंतवादी वृत्तियों के विरोध में है और उसका एक बड़ा आयाम हमें **'गांधी जी बोले थे'** में मिलता है। लेकिन अभिमन्यु ने गांधी जी को भारतीय मूल के लोगों की संवेदना एवं चेतना के साथ जोड़कर जहाँ एक तरफ महात्मा गांधी के प्रारंभिक जीवन-संदर्भ में अफ्रीका यात्रा के दौरान मारीशस में उनकी प्रगतिशील, आधुनिक और अपने अधिकार के लिए संगठित शक्ति के संचयन के दृष्टिकोण को पृष्ठ भूमि के रूप में दर्शाया है, वहीं दूसरी तरफ अपने देश से, गए समय में, रोजगार के लिए लदाए गए भारतीयों की दुर्दशा और उससे मुक्ति के मार्ग का निरूपण किया है।

कथावस्तु एक ऐसे गाँव की है जहाँ कुल जमा चालीस-पचास घर हैं, लगभग इतने ही मर्द हैं। ये लोग इस तरह से एक कबीले के रूप में रहते हैं। तथा ब्रिटिशर्स और फ्रांसीसी लोग ईस्ट इंडिया कंपनी की तरह ही यहाँ भी इन किसान मजदूरों का लट्टू की तरह इस्तेमाल करते हैं। ये लोग व्यक्ति नहीं बल्कि महज एक विनिमय की वस्तु बनकर रह गए हैं। जिनकी न कोई इज्जत है न आबरू। गाँव की बहू-बेटी किसी भी ताकतवर कोठी वाले की रियाया है, पर्सनल जागीर है, जिसे जब चाहे, जहाँ से चाहे उठवा लिया जाता है। इनका कसूर भी सिर्फ यही है कि ये ईसाई क्यों नहीं हो जाते। जबकि ईसाई हो जाने पर इन्हें रूपया और गोरी मेम का प्रलोभन दिया जाता है। बच्चों की अंग्रेजी-फ्रेंच

स्कूली तालीम की सुविधा दी जा सकती है। और ये हैं कि अपने भारतीय होने पर गर्व करते हैं। भले ही पीठ पर कोड़े खाने पर या पीठ पर गोली फिर चाहे विवेक की तरह फाँसी पर लटकाए जाएँ या देवदत्त की तरह कुत्तों से नुचवाए जाए, नियति दुर्गतिपूर्ण ही हो।

यह शोषण और इसके विरोध में आवाज उठाते हुए संगठित होकर विरोधी शक्तियों का मुकाबला करते हुए, अपनी अस्मिता को बचाए रखते हुए—अपनी परंपरा संस्कृति का निर्वाह करते जाना इस उपन्यास की मूल संवेदना है। अभिमन्यु अनत ने '**गांधी जी बोले थे**' में यही कहने का जोखिम उठाया है कि किसी भी मुल्क की राजनीति मुट्ठी भर धनपतियों की बपौती क्यों रहे?

गांधी जी ने भी तो मारीशस जाकर यही कहा था कि सामान्य जन राजनीति से दूर रहकर अपना अधिकार नहीं पा सकते। लोग आम आदमी की इज्जत करना सीखें, इसके लिए जरूरी है सक्रिय राजनीति में भाग लेना यानी आपके प्रतिनिधि केवल मजदूर संगठन बनाकर नारे ही न लगाते रहें बल्कि विधानसभा के भीतर से अपने अधिकारों का तकाजा करें। इसके लिए दूरगामी परिणाम को ध्यान में रखते हुए उन्होंने यह भी कहा था—आप मजदूरों के बच्चे भी दूसरों की तरह स्कूल पढ़ने जाएँ, अच्छी तालीम पाएँ और सही गलत की पहचान करते हुए अन्याय को रोकने में आगे आएँ।

सिद्धांत रूप में देखा जाए तो किसी भी देश के आंतरिक विकास के लिए ये मुद्दे न केवल जागरूक नागरिकता को जन्म देते हैं बल्कि एक खुशहाल देश के लिए 'की पॉइण्ट' हैं। इन्हीं को केंद्र में रख कर यह उपन्यास साधारण किसान मजदूरों के गाँव की करुण गाथा का आख्यान बन जाता है।

उपन्यास का नायक मदन केंद्रीय पात्र है जो भूतपूर्व मुखिया किशन सिंह का बेटा है। अपनी राष्ट्रीयता की धुन में गरीबों का मसीहा बनने के जुर्म में कितने अमानवीय तरीकों से उसे अंधा बना दिया गया। लेकिन अपनी समझ और जागरूक दृष्टि के कारण वह गाँव का मुखिया है। सीता विवेक की विधवा है जिसका एक मात्र बेटा परकाश है। मीरा गाँव की एक अन्य लड़की है जो मदन से प्रेम करती है। यह जानते हुए भी कि वह अंधा हो गया है, वह उसकी लौकिक आँखें बन कर उसके मिशन में सहयोगिनी के रूप में प्रस्तुत होती है।

सीता-परकाश, मदन और मीरा के त्रिकोण के साथ कोठी मालिक, हरखू सरदार और सामंती व्यवस्था के सामने घुटने टेकने वाले कुछ अदद जनखों के बीच चलता हुआ यह उपन्यास अंततोगत्वा परकाश के पढ़लिखकर मजदूरों के नेता के रूप में स्थापित होने, भारत से गए वकीलों की सहायता से मजदूरों के कानूनी हक दिलाने के क्रम में जिस जागरूकता को उजागर करता है, रचनाकार के गहन सरोकार, सोच और ईमानदार सामाजिकता के दायित्व और व्यवस्था और जनता के बीच के सही रिश्तों के तहत आदमी की सही भूमिका का उल्लेख करता है।

अपने सभी आर्थिक-राजनैतिक मोर्चे के साथ-साथ उपन्यास प्रेम को भी एक मूल्य स्तर देता है। प्रेम संबंधों को लेकर मदन का अड़ियल रुख और परकाश का मदन द्वारा मीरा के साथ विवाह को समझते हुए भी स्वीकार के संकोच से विरोध प्रकट करना और अपने ही अन्याय के खिलाफ विद्रोह उपन्यास की संवेदनात्मक गहराइयों को और गहराते हैं। और इस तरह एक स्तर वह आता है जहाँ मदन का सारा आदर्श केवल व्यक्तिगत अहं का शिकार होकर रह जाता है। यह शायद जरूरी भी था। मदन के दो व्यक्तियों के बीच समन्वय की श्रृंखला कभी ढीली कभी नियंत्रित चलते हुए भी एक मोड़ पर आकर बड़े मूल्य के लिए व्यक्तिगत आकांक्षाओं के त्याग के आदर्श के स्थापन से अपना औचित्य सिद्ध करते हुए समकालीन सोच के स्तर पर सहज लगता है।

अपनी औपन्यासिक यात्रा में अनत का सोच और रचना धर्मिता का यह सटीक संतुलन उनके समूचे

रचना व्यक्तित्व का प्रतीक बन जाता है। निश्चय ही मारीशसीय परिवेश में रहते हुए भी व्यक्ति पीड़ा और सामूहिक त्रासदियों के बीच सही का निर्धारण अपने रचनात्मक उत्कर्ष पर अभिमन्यु अनत की जागरूक रचना धर्मिता दर्शाता है। यह देखकर भी सुखद अनुभूति ही होती है कि ये रचनाएँ अपनी मूल मानसिकता में भारत की भूमि से भी उतने ही गहरे से जुड़ी हैं जितनी मारीशस से। इसी लिए इनकी जमीन जानी पहचानी और अपनी सी लगती है। किसी भी रचनाकार के लिए यह स्वयं एक रचनात्मक मूल्य है।

—डॉ. अश्विनी पाराशर

पर पगडंडी नहीं मरती—नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, २३ दरियागंज दिल्ली-२

गांधी जी बोले थे—राज कमल प्रकाशन, ८ नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली-२

लीक से हटकर एक उपन्यास यात्रा

यों तो हर लेखक अपनी कृति में एक आदर्श की कल्पना करता है। महाकाव्यों की अवधारणा भी अकसर किसी आदर्श पर टिकी होती है। हमारे समय के सबसे उत्कृष्ट महाकाव्य रामचरित मानस में भी एक आदर्श राम राज्य, आदर्श भाई आदर्श पिता, आदर्श पति-पत्नी, आदर्श माता, आदर्श मित्र की कल्पना की गयी है और वह जीवन के इतने निकट है कि कल्पना भी नहीं है। प्रसाद ने 'कामायनी' में, पंत ने 'चिदम्बरा' में भी इसी तरह की एक आदर्श व्यवस्था की स्थापना की है।

इधर के उपन्यासों का ज्यादा जोर समाज की विसंगति उभारने में अधिक रहा है। डॉ० गुरचरण सिंह का उपन्यास 'यात्रा' अपने आकार-प्रकार में लघु होते हुए भी समाज की विसंगतियों को उभारने के साथ-साथ उसे एक दृष्टि भी देता है। एक आदर्श समाज की अपनी परिकल्पना प्रस्तुत करने के लिए लेखक ने एक विज्ञान कथा का तानाबाना बुना है और कहीं-कहीं फंतासी का भी सहारा लिया है। हिंदी में विज्ञान कथाएँ नहीं के बराबर है। प्रसिद्ध खगोलविद् डॉ० जयंत नारलीकर व प्रसिद्ध विज्ञान कथा लेखक डॉ० गुणाकर मुले के सद्प्रयत्नों से इधर हिंदी विज्ञान साहित्य की भी वृद्धि होती रही है किंतु यह सब भी उतना नहीं है कि हम गर्व से सीना तानकर चल सकें। गर्व से सीना तानकर चलने के लिये हमें आर्थर सी. क्लार्क जैसी प्रतिभाओं का अविष्कार करना होगा। आर्थर सी. क्लार्क ने न केवल फंतासी गढ़ी है बल्कि भविष्य के अविष्कारों के लिए रास्ता खोल दिया है। हमारे कई जानेमाने अविष्कार इस लेखक के दिमाग की उपज हैं।

आज जबकि हिंदी का अधिकांश कथा साहित्य (इसमें उपन्यास साहित्य भी शामिल है) लिजलिजी भावुकता और वैवाहिक और विवाहेत्तर संबंधों से घिरा है। वहाँ एक लेखक है जो अपनी कथा को एक वैज्ञानिक लोक में ले जाता है—तो उसकी तारीफ की जानी चाहिए। आज जबकि देश को २१ वीं सदी में ले जाने की बात जोर-शोर से उठ रही है—एक लेखक है जिसने अपने उपन्यास के माध्यम से यह बता दिया है कि आनेवाली सदियों में भारत या कि समूचा विश्व कैसा होगा। इस उपन्यास में जिस जीवन की कल्पना की गयी है ऐसा नहीं है कि वह एकदम कपोल-कल्पना है—वैसा जीवन कम से कम भारत में तो नहीं—जापान, न्यूयार्क जैसे बड़े शहरों में आज संभव हो गया है। भारत में अभी वैसा यंत्रीकृत समाज नहीं हुआ है—और एक तरह से यह भारत के लिए शुभ ही है—क्योंकि अभी ऐसा न

होने से हमारा किसी अजनबी के साथ भी संवाद बना हुआ है कल को एक यंत्रीकृत समाज में यह संवाद भी नहीं रह जायेगा। बटन दबाते ही सब कुछ पा लेने की संस्कृति हमें अभी नहीं चाहिए। रोटियों की जगह गोलियां चबाने के अभी हम आदी नहीं हुए हैं। अभी हमें माँ की लोरियाँ ही सुला रही है— किसी यंत्र का कोई बटन नहीं। फिर भी डॉ० गुरचरण सिंह ने अपने उपन्यास में जिस ईर्ष्या, द्वेषरहित, प्रदूषण रहित स्वस्थ समाज की कल्पना की है— वह चाहे कितना ही यंत्रीकृत क्यों न हो वह हमें चाहिए।

उपन्यास में जासूसी उपन्यास जैसी रोचकता बनी रहती है। यह रोचकता हरेक वैज्ञानिक फंतासी प्रधान उपन्यास में होती ही है। प्रसिद्ध फिल्मकार सत्यजीत राय के इस तरह के कुछ उपन्यास हिंदी में अनूदित होकर आए हैं उनका स्वागत हुआ है पर मौलिक उपन्यासों का अधिक स्वागत होना चाहिए ताकि लोग प्रेम-संबंधों की अंधी गलियाँ छोड़कर इस दिशा में भी प्रवृत्त हो।

उपन्यास का आरंभ भी बहुत रोचक है जरा देखें— 'अंधेरी गुफा के दूसरे कोने से एक पहाड़ उठता है और स्याह दैत्य के नुकीले हाथ बढ़ते हैं।' पहली पंक्ति ही पाठक को बाँधने के लिए काफी है।

इधर किताबों के मँहगे होने की चर्चा समीक्षाओं में की जाती रही है, मैं इस समीक्षा में किताब के सस्ते होने की चर्चा करूँगा। हिंदी में केवल २० रूपए में इस तरह का रोचक उपन्यास मिलना आज लगभग असंभव नहीं तो मुश्किल जरूर है।

हिन्दी का समीक्षक किताबों के कथा में इतना अधिक डूब जाता है कि उसका ध्यान किताबों के सुरूचिपूर्ण आवरण पर नहीं ही जाता है। में इस समीक्षा मैं इस किताब के आवरण की भी चर्चा करना चाहूँगा। चार रंगों वाले इस आवरण में एक लड़की की आंखें चमगादड़ से बनाई गई है— बाल बादलों की तरह हैं और नीचे एक साईकिल या मशीन का एक पहिया है या यह एक छोटे पहिये से बड़े पहिये की ओर की गई 'यात्रा' है। खेद है कि इतने अच्छे चित्र के चित्रकार का नाम का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। □

राजेंद्र उपाध्याय

यात्रा (उपन्यास)— डॉ० गुरचरण सिंह, २० रूपये, जयश्री प्रकाशन, दिल्ली-३२

जहाँ मैं खड़ा हूँ

आज जबकि हिंदी के तथाकथित आत्ममुग्ध 'महान' लेखक अपने लेखन में सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता, सार्वयुगीनता की चर्चा करते नहीं अघाते— एक लेखक इन महिमामंडित शब्दों की भुलभुलैया में न पड़कर अपनी भूमि, अपने काल, अपने युग की बात कर रहा है। वह जानता है कि अपनी भूमि, अपने काल और अपने युग से कटे लेखक ही सार्वभौमिकता, सार्वकालिकता, सार्वयुगीनता जैसे छद्म आवरणों का सहारा लेते हैं। प्रसिद्ध कवि-उपन्यासकार डॉ० रामदरश मिश्र को इन आवरणों की जरूरत कभी नहीं रही— क्योंकि वे वह जगह जानते हैं, वह काल जानते है, वह युग जानते है, जहाँ वे खड़े हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथात्मक कृति '**जहाँ मैं खड़ा हूँ**' में जैसे मानचित्र में वह जगह, वह भूमि, वह यथार्थ बता दिया है कि 'मैं यहाँ खड़ा हूँ', मुझे ढूंढना है तो यहां आओ, मेरे साथ चलो, मैं यही से कह सकता हूँ अपनी बात। लेखक को अपने पैरों के नीचे की जमीन पर भरोसा

है और अपने पैरों पर भी और यह भी कि वहां से कोई हटा नहीं सकता है।

आज जबकि हिंदी का अधिकांश तथाकथित आधुनिक साहित्य महानगरों, शहरों, कस्बों में सिमटकर रह गया है—एक लेखक आपको अपने गाँव चलने का निमंत्रण दे रहा है। हिंदी में 'आंचलिक लेखन' के नाम पर 'गाँव' को अपनी रचना प्रक्रिया में शामिल करने का भी इधर फैशन जोर पकड़ रहा है यह फैशन और इन कृतियों का गाँव कुछ-कुछ बम्बईया फिल्मों के स्तर पर होता है। लेकिन रामदरश जी आपको किसी फैशन या किसी 'आंचलिक' मुहावरे के तहत अपने गाँव में नहीं ले जाते। वे तो पूरे गाँव को एक चरित्र की तरह अपनी इस आत्मकथात्मक कृति में उतारते हैं—यह उनकी अपनी आत्मकथा तो है ही एक गाँव की भी आत्मकथा है यह गाँव केवल भौगोलिक स्तर पर ही उनसे जुड़ा हुआ नहीं है—यह गाँव उनके रेशे-रेशे में उनके खून में बस गया है। 'मेरा गाँव न जाने कितने स्तरों पर मुझमें है, न जाने कितने स्तरों पर उसने मेरा निर्माण किया है, न जाने उसके वर्तमान और अतीत की कितनी जीवन-धाराएँ मुझमें जाने-अनजाने अपना वेग और प्रभाव छोड़ती गयी हैं। न जाने उसके जीवन के बीहड़ जंगल में जीवंत चरित्रों के कितने पेड़ खड़े थे जो मेरे अनुभवों में और मेरे रचना जगत् में समाते गये' (पृ० ९६)। कहना न होगा यहां केवल चरित्र ही जीवंत नहीं हुआ है—पूरा एक गाँव—अपनी समस्त सुंदरताओं और कुरूपताओं के साथ जीवंत हो उठा है। इस गाँव में नदियाँ बहती हैं तो वे बाढ़ का प्रकोप भी दिखाती हैं—इस गाँव में फागुन है, होली की मस्ती है तो साथ ही 'प्लेग' का प्रकोप भी है—यहाँ वसंत है तो वसंतोत्सव की लाश भी है।

इस कृति को पढ़ते हुए ऐसा लग सकता है, कि लेखक अपने गाँव को लेकर अतिरिक्त रूप से भावुक हो गया है कहीं कहीं 'अहा! ग्राम्य जीवन भी क्या है' वाली उक्ति भी वह चरितार्थ करता लगता है—लेकिन साथ ही ग्राम जीवन की विभिषिकाओं-विषमताओं-कुरूपताओं पर भी वह ऊंगली रखता चलता है—वह जमींदारों के शोषण की कथा कहता है—'किसी का हलवाहा काम पर नहीं आया तो वह उसे पीट रहा है, किसी हरिजन ने बेगार नहीं किया तो वह उसे पीट रहा है, आज उसकी सुहागरात है, उसके मन में न जाने कितने सपने होंगे, उसकी आँखों में अपने पति का कितना प्यारा रूप अंकित होगा और इस जमींदार ने तो जूतों और डंडों से पीट-पीटकर उसकी देह क्षत-विक्षत कर दी। पूरी देह में हल्दी पोते रात-भर कराहेगा और उसकी दुल्हन बैठी रोएगी, उस आँसुओं के रास्ते उसके सारे सपने चूर-चूर कर उसे खाली कर देंगे।' इसी गाँव में कवि सम्मेलन और कीर्तन किसानों के खून से चिपचिपाते पैसों से होते हैं, कुश्ती और दंगल होते हैं और इसी गाँव मे वे युवक-जिनपर कभी अत्याचार हुआ था—अत्याचार करना सीखते हैं—अपने ही लोगों पर सामंती दरबार में नौकरी करते हुए नितांत संवेदनशील व्यक्ति भी किस तरह सामंती संस्कारों से ग्रस्त हो जाते हैं—यह भी लेखक ने अपने बड़े भाई के माध्यम से बखूबी बताया है।

कुछ लेखक यह मानते रहे हैं कि जब तक जीवन में कुछ 'बड़ा' कहने को न हो, कुछ महान्, कुछ भव्य, कुछ असामान्य घटनाएँ-दुर्घटनाएँ, प्रेम-प्रसंग न हो तब तक आत्मकथा नहीं लिखनी चाहिए। हिंदी में आत्मकथ्यात्मक साहित्य बहुत दरिद्र है। जो है भी वह अनावश्यक दंभ से भरा हुआ है—उसमें लेखक अपने को महाकाव्यात्मक नायक की समस्त विशेषताओं से विभूषित करके प्रस्तुत करता है—इसलिए उसमें अनावश्यक लागलपेट और छल-कपट ज्यादा है। 'मैं एक सामान्य व्यक्ति हूँ। मेरे जीवन में ऐसा कुछ नहीं है जो पाठकों को महान् असामान्य और बहुत मूल्यवान लगे पर सामान्य व्यक्ति के दुख-दर्द भी अपनी जगह कम सार्थक नहीं होते हैं।'

कोई आत्मकथा या आत्मकथात्मक कृति क्यों लिखता है? हमें अपने विगत जीवन की ओर झाँकने

की क्यों जरूरत पड़ती है। जिन्होंने आत्मकथा लिखने का दावा न भी किया हो—उन्होंने भी अपने उपन्यासों में अपने विगत जीवन की ओर झाँका जरूर है—ऐसा क्यों? इसका एक उत्तर तो यह है और शायद यही सबसे अच्छा उत्तर है कि यही तो लेखक की पूँजी है।

राजेंद्र उपाध्याय

जहाँ मैं खड़ा हूँ, रामदरश मिश्र, किताबघर, दिल्ली मू० ३० रु.

पत्र-पत्रांश

'गगनाञ्चल' का मारीशस अंक तो रत्न मंजूषा के समान है। मारीशस की हिंदी प्रचारिणी सभा से संबंधित लेखों और वहाँ की हिंदी कविताओं वाले लेख ने तो इस अंक को मेरे आर्काइव्ज़ की मूल्यवान् वस्तु बना दिया है। सभी मारीशसीय और भारतीय लेखों, कविताओं को पढ़ते हुए दिल से सराहता भी चला। संपादक के रूप में तुम्हारी बोहनी बहुत अच्छी हुई। मेरी हार्दिक बधाई और स्नेह स्वीकारो। संपादकीय अच्छा लगा।

—अमृतलाल नागर, चौक, लखनऊ, २२६००३

मारीशस अंक बहुत सुंदर निकला। आपको बधाई।

—बच्चू प्रसाद सिंह, भारतीय राजदूत, सूरीनाम

मारीशस अंक की प्रति प्राप्त हुई, आभारी हूँ। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् ने यह अंक निकालकर भारत और मारीशस के बीच साहित्यिक और सांस्कृतिक संबंधों को दृढ़ बनाने में निश्चय ही प्रशंसनीय योगदान दिया है। भारत के बाहर मारीशस जैसे देशों में हिंदी के विकास के लिए जो कार्य हो रहा है उनसे इस देश के हिंदी पाठकों को परिचित कराया जाना और वहाँ के समकालीन हिंदी साहित्य का मूल्यांकन किया जाना बहुत आवश्यक है। अभिमन्यु अनत, सोमदत्त बखोरी, सत्यदेव प्रीतम, मुनीश्वर लाल चिंतामणि, अनिरुद्ध द्वारका, धनदेव बहादुर, सोनालाल नेमधारी और पूजानंद नेमा प्रभृति लेखकों और साहित्यकारों की रचनाओं को भारतीय पाठ्य पुस्तकों में भी उचित स्थान दिया जाना चाहिए, तभी समकालीन समग्र हिंदी साहित्य का समुचित अध्ययन संभव हो सकेगा।

—परमानंद पांचाल, विशेष कार्य अधिकारी (भाषाएँ), राष्ट्रपति भवन, नयी दिल्ली-१

मारीशस अंक पढ़ा। आपके सुसंपादन से जो दो राष्ट्रों का साहित्य संगम देखने को मिला वह निस्संदेह सराहनीय है।

—नंद नंदन सनाढ्य, अनुसंधान अधिकारी (हिंदी), विदेश मंत्रालय, नयी दिल्ली-११

व्यक्तित्व और कल्पना के अनुसार ही मारीशस अंक मिला। नयनाभिराम आवरण और हर पहलू को उजागर करती हुई रचनाएँ। यह हर दृष्टि से संग्रहणीय और पठनीय दोनों है। मेरी बधाई स्वीकार करें।

—शंकर दयाल सिंह, कामता सदन, बोरिंग रोड, पटना-१

इस अंक के लेखक

रणजीत कुमार साहा	जन्म: २१ जुलाई, १९४६, भागलपुर (बिहार)। शिक्षा: एम० ए०, पी-एच० डी० (शांति निकेतन) डिप० इन० फाइन आर्ट्स। प्रकाशित कृतियाँ—'सहज सिद्ध: साधना एवं सर्जना' 'श्री रास', 'किरंतन' (संपादित), 'मृत्युजय' (ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित असमिया उपन्यास का अनुवाद)। विश्वभारती, शांति निकेतन में लगभग एक दशक तक शोधकर्ता एवं अध्यापन (हिंदी विभाग)। पुन: दिल्ली विश्वविद्यालय के एसोशिएट। संप्रति: सहायक संपादक, साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली।
डॉ० एल० बी० राम 'अनंत'	शिक्षा: एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्। प्रख्यात चिंतक-समालोचक। पत्र-पत्रिकाओं में विशिष्ट लेख। बौद्ध दर्शन और साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान्। पूर्व अध्यक्ष हिंदी विभाग, एम० एम० एच० कॉलेज, गाजियाबाद (उ० प्र०) संप्रति: स्वतंत्र लेखन।
डॉ० दिनेश चंद्र अग्रवाल	जन्म: मेरठ, उत्तर प्रदेश, १९४१। शिक्षा: एम० ए० (चित्रकला), पी-एच० डी०। पंजाब के पहाड़ी क्षेत्रीय राज्यों की पहाड़ी कला विषयक रिसर्च प्रोजेक्ट में संलग्न। प्रवक्ता—चित्रकला विभाग, जे० वी० जैन कॉलेज, सहारनपुर।
डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव	जन्म: १९३६, उत्तर प्रदेश। शिक्षा: एम० ए०, पी-एच० डी०। लगभग पचास शोध पत्रिकाओं में स्तरीय लेखों का प्रकाशन। हिंदी साहित्य की विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं में लेखन के अलावा भारतीय कला संस्कृति, पुरातत्व से संबंधित तीन पुस्तकें। देश-विदेश में आयोजित विद्वत् सम्मेलन में शोध-पत्रों की प्रस्तुति। संप्रति: सी० एम० पी० कॉलेज (इलाहाबाद वि० वि०) के प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग में अध्यापन।

डॉ० मस्तराम कपूर	सन् १९५२ से कहानी, उपन्यास, नाटक के साथ-साथ बाल-साहित्य के प्रणयन में सतत् सक्रिय। लगभग तीस पुस्तकें। कुछ पत्रिकाओं का संपादन। संप्रति: स्वतंत्र लेखन।
डॉ० देवेंद्र ठाकुर	जन्म: ७ मई १९३९ शिक्षा: एम० ए० पी-एच० डी०, डी० लिट्। अर्थशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान। कई विद्वत् सम्मेलनों में हिस्सा लिया। कई लेखों का पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन। बिहार कॉलेज सेवा आयोग के पूर्व-सदस्य।
योगेंद्र दत्त शर्मा	हिंदी के नए कहानीकारों में एक चर्चित नाम। 'गवाक्ष' खण्ड-काव्य। पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर रचनाएँ। संप्रति: सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, पटियाला हाऊस, नयी दिल्ली।
डॉ० सुधेश	जन्म: ६ जून, १९३३, जगादरी अंबाला, हरियाणा। शिक्षा: एम० ए०, पी-एच० डी०। कविता, आलोचना, यात्रा-वृतांत संबंधी चार पुस्तकें। विदेश भ्रमण के साथ-साथ पुस्तक-संपादन और अनुवाद-कार्य। संप्रति: एसोशिएट प्रोफेसर, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली।
अजित कुमार	जन्म: ९ जून, १९३३, लखनऊ (उ० प्र०) शिक्षा: प्रयाग विश्वविद्यालय। कृतियाँ: 'अकेले कंठ की पुकार', 'ये फूल नहीं' (कविता-संग्रह), 'अंकित होने दो' (विविधा), 'कविता का जीवंत संसार' (निबंध), आचार्य शुक्ल विचार कोश (संपादित), 'सफरी झोले में' (यात्रा वृतांत), 'छाता और चारपाई' (कहानी-संग्रह)। कविताएँ: १९५४, १९६३, १९६४, १९६५ (संयुक्त रूप से संपादित), बच्चन: निकट से (संपादित), हिंदी की श्रेष्ठ प्रतिनिधि कविताएँ (संयुक्त रूप से संपादित)। संप्रति: दिल्ली विश्वविद्यालय के किरोड़ीमल कॉलेज में प्राध्यापक।
नरेंद्र सिन्हा	जन्म: १९२७। कवि, लेखक और पत्रकार। केंद्रीय सूचना सेवा से संबद्ध। प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ—'मगर डूबा नहीं है वट वृक्ष' (कविता-संग्रह), 'देश भक्ति की कविताएँ' (संपादित)। संप्रति: *सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के सांस्कृति मासिक* 'आजकल' के संपादक।

नरेंद्र मोहन	जन्म: ३० जुलाई, १९३५, लाहौर। शिक्षा: एम० ए०, पी-एच० डी०। अब तक चार कविता-संग्रह प्रकाशित। कुछ कविताएँ अंग्रेजी, मराठी, पंजाबी तथा बंगला भाषा में अनूदित। संप्रति: हिंदी-विभाग, खालसा कॉलेज, दिल्ली।
प्रयाग शुक्ल	जन्म: २८ मई, १९४०, कलकत्ता। प्रारंभिक शिक्षा पैतृक गाँव, तिवारीपुर, हुसेनगंज, फतेहपुर (उ० प्र०) में। कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातक। 'कल्पना' (हैदराबाद), 'दिनमान' संपादक मंडल में रहे। आजकल 'नवभारत टाइम्स' के संपादकीय विभाग में हैं। तीन कविता संग्रह, चार कहानी संग्रह और एक उपन्यास 'गठरी'। कला-समीक्षक। ललित कला अकादमी के लिए 'कला समय समाज' नाम से एक पुस्तक का संपादन। 'समकालीन कला' के दो अंकों के अतिथि संपादक।
रमेश कुंतल मेघ	विज्ञान के स्नातक होने के उपरांत साहित्य क्षेत्र में अनुप्रवेश। आलोचक के साथ-साथ सौंदर्यबोधशास्त्र वेत्ता। 'साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक' तथा 'अथातो सौंदर्य जिज्ञासा' नामक सौंदर्य तत्व-ग्रंथों के प्रणेता। साहित्य के समाजशास्त्र, मार्क्सवादी दर्शन, भारतीय कलाओं के प्रति समर्पित। यूगोस्लाविया, इटली तथा सोवियत संघ की सांस्कृतिक यात्राएँ। संप्रति: गुरू नानक देव विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा एम० फिल० पाठ्यचर्याओं में सौंदर्यबोध शास्त्र के अध्यापक।
मधुर शास्त्री	जन्म: १९३०, वरौठा, अलीगढ़ (उ० प्र०)। शिक्षा: एम० ए०, प्रभाकर शास्त्री। प्रकाशन: 'आँधी के पांव' (काव्य-संग्रह), हिंदी साहित्य की प्रतिनिधि पत्र-पत्रिकाओं में रचनाए। विशिष्ट साहित्यिक सेवाओं के लिए हिंदी अकादमी द्वारा पुरस्कृत।
जगदीश चतुर्वेदी	जन्म: १३ जनवरी, १९३३, ग्वालियर। शिक्षा: एम० ए०। तीन कविता-संग्रह, एक खण्ड काव्य तथा कहानियों के छह संग्रह प्रकाशित। नाटक, समीक्षा एवं अनुवाद भी। संप्रति: केंद्रीय हिंदी निदेशालय में सहायक निदेशक तथा 'भाषा' एवं 'वार्षिकी' के संपादक।
सुरेश विमल	जन्म: ४ दिसंबर, १९५०, टोडामीम, राजस्थान। शिक्षा: राजस्थान विश्वविद्यालय। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ।

संप्रति : विदेश मंत्रालय में कार्यरत।

रामभोहन पाठक

शिक्षा : एम० ए०।
'बैचलर ऑफ जर्नलिज्म' हिंदी पत्रकारिता का साहित्यिक योगदान विषय पर शोध-कार्य (काशी हिंदू विश्वविद्यालय)।
हिंदी तथा अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ।
संप्रति : 'आज' (हिंदी दैनिक) एवं 'अवकाश' (पाक्षिक) के संयुक्त संपादक। पत्रकार संघ काशी के अध्यक्ष।

एअर-इंडिया

AIR-INDIA

A READERS PARADISE IN THE SKY